श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट ग्रंथमाला सं०—२८



वैदिक-स्वर-मीमांसा



लेखक
पं० युधिष्ठिर मीमांसक



प्रकाशक
श्री. हंसराज कपूर
मन्त्री—श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट
गुरु बाजार, अमृतसर

ट्रस्ट के उद्देश्य

प्राचीन वैदिक साहित्य का अन्वेषण, रक्षा तथा प्रचार
तथा भारतीय संस्कृति, भारतीय शिक्षा, भारतीय
विज्ञान और चिकित्सा द्वारा जनता की सेवा



मुद्रक—
रा. गो. महाडकर
चन्द्रशेखर मुद्रणालय,
विश्वेश्वरगंज, वाराणसी

ओ३म्

प्रकाशकीय वक्तव्य

यह "वैदिक-स्वर-मीमांसा" पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक ने बहुत वर्षों के निरन्तर शास्त्रानुशीलन के पश्चात् बहुत उपयोगी और स्वर-विषय का उत्कृष्ट ग्रंथ लिखा है। इससे वैदिक-स्वर-विषय की अनेक ग्रन्थियां सुलझेंगी, इस विषय की गम्भीर जानकारी प्राप्त होगी।

इस पुस्तक में वैदिक ग्रन्थों में प्रयुक्त उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरों की विशद व्याख्या की गई है। स्वरों का शब्दार्थ और वाक्यार्थ के साथ क्या सम्बन्ध है, इसकी सप्रमाण मीमांसा की है। वेदार्थ में स्वर-शास्त्र का ज्ञान कितना आवश्यक है, उसकी उपेक्षा के क्या दुष्परिणाम होते हैं, इसकी सप्रमाण विस्तार से व्याख्या की है। अन्त में वैदिक ग्रन्थों में उदात्त आदि स्वरों के जितने प्रकार के चिह्न व्यवहृत होते हैं, उनकी व्याख्या और संहितापाठ से पदपाठ बनाने और उसमें होने वाले स्वर-विपर्यय के नियम दिये गये हैं। यह सारा ग्रन्थ ऋषि दयानन्द के "अथ वेदार्थोपयोगितया संक्षेपतः स्वराणां व्यवस्था लिख्यते" (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका) की व्याख्यामें लिखा गया है।

पाठक इस ग्रन्थ का गंभीर अध्ययन कर बहुत लाभ उठावें, इसी लिए ट्रस्ट इस ग्रन्थ को प्रकाशित कर रहा है।

बहुत थोड़ी प्रतियां छपने के कारण इसका मूल्य ३) रखना पड़ा है।

हमारी दृष्टि में विद्वान् लेखक ने अपने विचार बहुत योग्यता और स्पष्टता से लिखे हैं। सभी विद्वान् इस विषय में उनके साथ पूरे सहमत हों, यह आवश्यक नहीं। "व्यत्यय" के सिद्धांत पर जो लिखा गया है, उसमें हम तो महर्षि पाणिनि और पतञ्जलि के मत को प्रामाणिक समझते हैं। अर्वाचीन वैयाकरण व्यत्यय वाले प्रयोगों को अशुद्ध मानते

हैं, तो यह उनकी भूल है। "पतञ्जलि के "तिङां व्यत्ययः चषाल ये अश्वयूपाय तक्षति तक्षन्तीति प्राप्ते" वचन का भी इतना ही अभिप्राय है कि वेद में तिङन्त शब्दों में लौकिक नियमों का अतिक्रमण देखा जाता है" पृ० ९९॥ अर्वाचीन वैयाकरणों को यह बात माननी ही पड़ेगी और माननी ही चाहिये। लेखक को 'व्यत्यय' की अर्वाचीन व्याख्या अभिमत नहीं, 'व्यत्यय' का सिद्धान्त तो अभिमत है। इस पर विद्वान् शान्तिपूर्वक विचार करें॥

निवेदक

ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

प्रधान रामलाल कपूर ट्रस्ट

गुरु बाजार, अमृतसर

लेखक का निवेदन

वेद के विद्वानों, पाठकों और स्वाध्याय-शील महानुभावों के सम्मुख वैदिक-स्वर-मीमांसा ग्रंथ उपस्थित कर रहा हूं। यद्यपि यह ग्रंथ अत्यन्त लघु-काय है, तथापि विषय की दृष्टि से अत्यन्त गम्भीर और महत्त्वपूर्ण है।

मैंने पाणिनीय व्याकरण के विविध ग्रंथों, प्रातिशाख्यों, शिक्षाओं तथा उपलब्ध सम्पूर्ण वेदभाष्यों का यथासम्भव अनुशीलन और मनन करके उदात्त आदि स्वरों के विषय में जो थोडा बहुत ज्ञान उपलब्ध किया है, उसे विद्वानों के कर-कमलों में समर्पित कर रहा हूं। मैंने इसे कहां तक समझा है, इसकी परीक्षा स्वर-विषय में कृतभूरिपरिश्रम महानुभाव ही कर सकते हैं।

मुझे स्वर-विषय के ज्ञान में ऋग्वेद के प्रसिद्ध भाष्यकार वेङ्कटमाधव की स्वरानुक्रमणी[1] से अत्यधिक सहायता मिली है। यदि यह ग्रंथ मुझे उपलब्ध न होता तो सम्भव है, मैं वैदिक-स्वर-विज्ञान की इतनी गहराई तक न पहुँच पाता। वेङ्कटमाधव का स्वरानुक्रमणी-ग्रंथ इतना गम्भीर है कि मुझे इस ग्रंथ को समझने में भी पर्याप्त समय लगा।

वेङ्कटमाधव तथा भट्टभास्कर—सम्पूर्ण मध्यकालीन और आधुनिक वेदभाष्यकारों में निस्सन्देह वेङ्कटमाधव सर्वोत्कृष्ट स्वर-शास्त्रज्ञ है। इसके लघु और बृहद् भाष्य[2] इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। वेङ्कट के अनन्तर यदि किसी की गणना हो सकती है, तो वह है भट्टभास्कर। भट्टभास्कर ने तैत्तिरीय संहिता और उसके ब्राह्मण तथा आरण्यक का भाष्य रचा है। यद्यपि भट्टभास्कर

---

१ वेङ्कट माधव ने अपने ऋग्वेद के लघु-भाष्य के प्रति अध्याय के आरम्भ में वैदिक विषयों की श्लोकरूप में गम्भीर विवेचना की है। उसी के अन्तर्गत प्रथमाष्टक के आठ अध्यायों में वैदिक-स्वर-विषय में जो विवेचना की है, वही 'स्वरानुक्रमणी' के नाम से प्रसिद्ध है॥

२. वेङ्कट माधव ने ऋग्वेद के लघु और बृहद् दो भाष्य लिखे थे। बृहद् भाष्य का कुछ प्रथम अष्टक अडयार (मद्रास) से छपा है। डा. कुन्हन राज इसे वेङ्कटमाधव की कृति नहीं मानते। परन्तु यह मत भ्रान्त है। इस विषय की विशेष विवेचना के लिए, देखिए श्री प० भगवद्दत्तजी विरचित वैदिक वाङ्मय का इतिहास 'वेदों के भाष्यकार' भाग, पृष्ठ ३५, ३६॥

अपने भाष्य में पाणिनीय व्याकरणानुसार स्वर-प्रक्रिया का निर्देश करता है, परन्तु वह पदार्थ और वाक्यार्थ में स्वर-शास्त्र का कुछ भी उपयोग नहीं लेता।

सायण—सायणाचार्य ने अपने ऋग्वेदभाष्य के आरम्भ में यथासम्भव प्रतिमन्त्र स्वर-प्रक्रिया का निर्देश किया है। यद्यपि उसे ऊपर से देखने पर सायण के स्वर-शास्त्रज्ञ होने की प्रतीति होती है, परन्तु उसके वेदभाष्य के गहरे अनुशीलन और उससे पूर्ववर्ती भट्टभास्कर द्वारा निर्दिष्ट स्वर-प्रक्रिया के साथ तुलना करने पर ज्ञात होता है कि सायण का स्वर-शास्त्रविषयक ज्ञान अति स्वल्प है। वह प्रायः भट्टभास्कर की स्वर-प्रक्रिया की प्रतिलिपि करता है, और वह भी आखें मूंदकर। इसका एक उदाहरण इसी पुस्तक के आठवें अध्याय में दोषावस्तः पद की स्वर-विवेचना में उपलब्ध होगा। इतना ही नहीं, सायण जहा जहा स्वतन्त्र रूप से स्वर-प्रक्रिया लिखता है, वहा वह प्रायः ५०% पचास प्रतिशत भूल करता है। उसकी प्रतिसूक्त व्याख्या में स्वर-संबन्धी ४-५ भयङ्कर भूलों का उपलब्ध होना साधारण सी बात है।

ग्रन्थ की प्रतिक्रिया—इस पुस्तक को पढकर निस्सन्देह अनेक व्यक्तियों के मन में अपनी अपनी भावनाओं और ज्ञान के अनुसार विविध प्रकार के विचार उत्पन्न होंगे। कई मुझे कोसेंगे भी। उन सब महानुभावों से निवेदन है कि वे इस ग्रन्थ को भावुकता-वश न देखें, यथार्थता को समझने का प्रयत्न करें, तब उन्हें इस ग्रन्थ से कुछ प्रकाश ही उपलब्ध होगा।

शास्त्राध्ययन-पद्धति की सदोषता—सैकडों और सहस्रों वर्षों से हमारे शास्त्राध्ययन की पद्धति विकृत हो गयी है। हम शास्त्र के शब्दों की तो बाल की खाल खेंचने की चेष्टा करते हैं, परन्तु शास्त्र के वास्तविक रहस्य को समझने की किंचित् भी चेष्टा नहीं करते। यही कारण है कि उदात्त आदि स्वरों का पदार्थ और वाक्यार्थ के साथ स्वभावत. विद्यमान तथा शास्त्र द्वारा प्रतिपादित संबन्ध को न समझकर केवल सूत्र-प्रवृत्ति तक ही सीमित रहते हैं।

मनचले वेद-व्याख्याता—अनेक मनचले अनधीत-शास्त्र वेद-व्याख्याता वेदार्थ में स्वरों की अनुपयोगिता की घोषणा करने की धृष्टता करते हैं। आर्य-समाज में विशेष कर ऐसे वेद-व्याख्याताओं का दल उत्पन्न हो गया है, जो सम्पूर्ण आर्ष परम्पराओं को छोडकर और वेदार्थ की मर्यादाओं को तोडकर अपनी तथाकथित अन्तःसाधना की आड में वेदार्थ के मिष से मनमानी कल्पनाएं उपस्थित करते हैं। ऐसे लोगों के ग्रंथों को देखकर मुझे वेङ्कटमाधव का एक वचन स्मरण हो आता है—

भाषमाणास्तमेवार्थमथ सम्प्रति मानवा. ।
मायाविनो लिखन्त्यन्ये व्याख्यानानि गृहे गृहे ॥
मन्त्रार्थक्रमणी ।

स्वराङ्कन के नियम—उपलब्ध वैदिक ग्रंथों में उदात्त आदि स्वरों के निर्देश का प्रकार प्रायः भिन्न भिन्न है। उसके बिना जाने पदस्थ उदात्त आदि स्वर का ज्ञान नहीं हो सकता और स्वर-ज्ञान के विना सूक्ष्म अर्थ-ज्ञान प्रायः असम्भव है। इसलिए इस पुस्तक के अन्तिम अध्याय में वैदिक वाङ्मय में प्रयुक्त होने वाले स्वर-चिह्नों के नियमों का सकलन करके सोदाहरण विशद व्याख्या की है। स्वराङ्कन के नियमों का इतने विशद रूप में सकलन करने का हमने प्रथम प्रयत्न किया है। पूर्ववर्ती लेखकों ने कुछ साधारण नियम लिखे हैं, परन्तु इतना साङ्गोपाङ्ग वर्णन करने का किसी ने प्रयास नहीं किया।

पूर्व लेखकों द्वारा शास्त्रीय पद्धति का परित्याग—अनेक पूर्ववर्ती लेखकों ने शास्त्रीय प्रक्रिया को छोड़कर स्वतंत्र रूप से अथवा पाश्चात्य मत का अन्धानुकरण करके लिखा है।[1] इसलिए उनके नियमों में स्पष्टता का अभाव है। यतः मैंने शास्त्रीय प्रक्रिया के अनुसार यह संकलन इदं प्रथमतया किया है, अतः इसमें भूलों का रहना अस्वाभाविक नहीं। पुनरपि इतना तो निस्सन्देह कहा जा सकता है कि हमारे नियम पूर्वलेखकों से कहीं अधिक स्पष्ट और नियमित हैं। इस अध्याय (१०) में जो सूत्र-वचन हैं, वे स्वनिर्मित हैं।

सहिता-पाठ से पद-पाठ—मन्त्र को संहिता-पाठ से पद-पाठ में परिवर्त्तित करने के नियम भी इदं प्रथमतया मैंने ही सकलित किए हैं। ये नियम ऋग्वेद के पद-पाठ के ही हैं।[2] इन नियमों का सकलन भी यथासंभव पाणिनीय व्याकरण के अनुसार किया है। संस्कृत एम. ए. तथा शास्त्री की परीक्षाओं में संहितापाठ को पदपाठ में अथवा पदपाठों को संहितापाठ में परिवर्तन करने का एक प्रश्न प्रायः अवश्य रहता है। अतः संस्कृत एम. ए. तथा शास्त्री के विद्यार्थियों की सुविधा के लिए पदपाठ के नियमों का परिशिष्ट (१) में विस्तार से संकलन किया है। आशा है इससे एम. ए तथा शास्त्री के विद्यार्थियों को अवश्य लाभ होगा।

अभ्यर्थना—यतः यह विषय स्वभावतः गम्भीर है, विशेषकर वेदार्थ के साथ इसके समन्वय का प्रश्न और भी महत्त्वपूर्ण तथा गम्भीरतम है। इसलिए

---

१. इसके लिए दशम अध्याय का प्रारम्भिक भाग देखें॥

२. यदि यह प्रयास लाभकारी सिद्ध होगा तो अगले संस्करण में अन्य वेदों के पदपाठों के नियम भी संकलित करने का प्रयत्न करेंगे॥

मुझ जैसे साधारणमति और बहुव्यवसायी व्यक्ति से कई भूलों का होना स्वाभाविक है। इसलिए जो महानुभाव इस ग्रन्थ में रही भूलों, न्यूनताओं तथा विविध अस्पष्टताओं को सहृदयतापूर्वक दर्शाने का कष्ट करेंगे, उन्हें अगले संस्करणों में कृतज्ञतापूर्वक ठीक कर दिया जाएगा।

इस पुस्तक के लेखन तथा मुद्रण में अनेक व्यक्तियों से समय-समय पर सहयोग मिलता रहा, उन सबका मैं आभारी हूँ। विशेष करके श्री माननीय प० भगवद्दत्त जी से अत्यधिक सहायता प्राप्त हुई है, इसके लिए मैं उनका महान् ऋणी हूँ।

इस पुस्तक की उपयोगिता का अनुभव करके श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट अमृतसर के अधिकारियों ने इसे प्रकाशित करने का भार उठाया, तदर्थ उनका कृतज्ञ हूँ। ट्रस्ट के चिरकालीन सहयोग से ही मैं इस प्रकार के गम्भीर ग्रन्थों के प्रणयन में समर्थ हो सका हूँ। इसके लिए उनका जितना धन्यवाद करूँ, स्वल्प है।

इस पुस्तक के मुद्रण में श्री पं० बालकृष्णजी शास्त्री, स्वामी ज्योतिष प्रकाश प्रेस, वाराणसी ने जिस तत्परता का परिचय दिया, वह उनके ही अनुरूप है। उनकी कृपा के बिना यह ग्रन्थ इतना शीघ्र और सुन्दर न छप सकता था। देहली जैसे बड़े नगर में तो स्वरयुक्त टाइप का ही सर्वथा अभाव है, अत आपकी ही शरण लेनी पड़ी।

अपने विरजानन्द आश्रम के ब्रह्मचारी ओम्प्रकाश आदि ने इस ग्रन्थ के प्रूफ-संशोधन और प्रेसकापी में लेखक-प्रमाद से रही अशुद्धियों का संशोधन अति योग्यतापूर्वक किया है। इसके लिए उन्हें हार्दिक आशीः देता हूँ॥

प्राच्यविद्याप्रतिष्ठान
महाशिवरात्रि, स० २०१४

विदुषां वंशवद.—
युधिष्ठिर मीमांसक

वैदिक-स्वर-मीमांसा

की

विषय-सूची

अध्याय	विषय	पृष्ठ
	१—स्वर शब्द के अर्थ और उसके पर्याय	२
	२—स्वरों के भेद और उनका उच्चारण-प्रकार	१०
	३—स्वरित के विविध भेद	२३
	४—प्राचीन भाषाओं में स्वरों का सद्भाव और उनका लोप	३३
	५—स्वर का पदार्थ और वाक्यार्थ पर प्रभाव	५१
	६—वेद का अर्थ	६०
	७—वेदार्थ में स्वरों का उपयोग और प्राचीन आचार्य	७५
	८—वेदार्थ में स्वर की विशेष सहायता और उसकी उपेक्षा के दुष्परिणाम	८०
	९—वेद में स्वर आदि का तथाकथित व्यत्यय नहीं	९४
	१०—वैदिक वाङ्मय के विविध स्वराङ्कन-प्रकार	१०१

परिशिष्ट

	१—पदपाठ के नियम	१४४
	२—साम-पदपाठ-स्वराङ्कन-प्रकार	१६०
	3-परिवर्धन, परिवर्तन व संशोधन	१६५





वैदिक-स्वर-मीमांसा

वेदार्थोपयोगितया संक्षेपतः स्वराणां व्यवस्था लिख्यते ।

[वेद के अर्थ में उपयोगी होने से स्वरों की व्यवस्था संक्षेप से लिखते हैं]

स्वामी दयानन्द सरस्वती

अन्धकारे दीपिकाभिर्गच्छन्न स्खलति क्वचित् ।
एवं स्वरैः प्रणीतानां भवन्त्यर्थाः स्फुटा इति ॥

[जैसे अन्धकार में दीपकों की सहायता से चलता हुआ कहीं ठोकर नहीं खाता, इसी प्रकार स्वरों की सहायता से किए गए अर्थ स्फुट (सन्देह-रहित) होते हैं]

वेङ्कट माधव



अथ

वैदिक-स्वर-मीमांसा

प्रथम अध्याय

स्वर शब्द के अर्थ और पर्याय

ग्रन्थ-प्रयोजन—(क) वेद के वास्तविक अभिप्राय तक पहुंचने के जितने साधन हैं, उन में स्वर-शास्त्र सब से प्रधान है। व्याकरण और निरुक्त जैसे प्रमुखशास्त्र भी स्वर-शास्त्र[1] के अङ्ग बन कर ही वेदार्थ-ज्ञान में सहायक होते हैं। स्वर-शास्त्र का विरोध होने पर ये दोनों शास्त्र पङ्गु बने रहते हैं।[2] स्वर-ज्ञान के बिना न केवल मन्त्र का वास्तविक अभिप्राय ही अज्ञात रहता है, अपितु स्वरशास्त्र की उपेक्षा से अनेक स्थानों में अर्थ का अनर्थ भी हो जाता है।[3] इसलिए वेद के सूक्ष्मतम अभिप्राय तक पहुँचने के लिए उदात्त आदि स्वरों का ज्ञान नितान्त आवश्यक है। स्वरों के ज्ञान के लिए उनका अङ्कन (चिह्न) प्रकार का जानना अत्यावश्यक है।

(ख) इस समय जितने सस्वर वैदिक ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उनमें उदात्तादि स्वरों के अङ्कन-प्रकार (चिह्न) भी एक जैसे नहीं हैं। कहीं कहीं तो अत्यन्त वैषम्य उपलब्ध होता है। यथा—

१—ऋग्वेद (काश्मीर पाठ के अतिरिक्त), यजुर्वेद (माध्य० काण्व० तैत्ति०) तथा अथर्ववेद में प्रयुक्त नीचे की पड़ी रेखा अनुदात्त का चिह्न है। यथा—

अ॒ग्निमी॑ळे (ऋ० १।१।१), इ॒षे त्वो॒र्जे त्वा॑ (१।१।१),
ये त्रि॑ष॒प्ताः (अ० शौ० १।१।१)।

---

१. स्वर शास्त्र व्याकरण का ही एक देश है। यहां व्याकरण से अभिप्राय केवल शब्द-निर्वचन से है। निरुक्त अर्थ-निर्वचन शास्त्र है, शब्द निर्वचन शास्त्र नहीं है। देखो, हमारे 'छन्द' शास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ का द्वितीय अध्याय।

२. इसके लिए 'वनेनवायः' (ऋ० १०।२९।१) मन्त्र के विषय में आठवें अध्याय में प्रस्तुत विचार का अवलोकन करें।

३. इस विषय के कतिपय उदाहरण हम आठवें अध्याय में प्रस्तुत करेंगे।

यही नीचे की पड़ी रेखा शतपथ ब्राह्मण (माध्य० काण्व) में उदात्त का चिह्न है। यथा—

इ॒षे त्वो॒र्जे त्वे॒ति (माध्य० शत० १।७।१।२)।

२—ऋग्वेद (काश्मीर पाठ से अन्यत्र), यजुर्वेद (माध्य०, काण्व०, तैत्ति०) तथा अथर्ववेद में ऊपर की खड़ी रेखा स्वरित का चिह्न है। यही ऊपर की खड़ी रेखा ऋग्वेद के काश्मीर पाठ तथा मैत्रायणी संहिता में उदात्त के लिए प्रयुक्त होती है। यथा—

अ॑ग्निमीळे (काश्मीर पाठ १।१।१),

इ॒षे॑ त्वा॒ सुभू॒ता॑यु (मै० १।१।१)।

३—सामवेद में उदात्तादि स्वरों का अङ्कन रेखाओं के स्थान में १, २, ३ संख्याओं द्वारा होता है। यथा—

अ॒ग्न॑ आ॑ या॒हि (पू० १।१।१)।

वैदिक ग्रन्थों में स्वराङ्कन-प्रकार (चिह्नों) के एवंविध वैषम्य के कारण स्वर-शास्त्रज्ञ भी कुछ समय के लिए भूलभुलय्या में पड़ जाता है, फिर स्वर-शास्त्र के न जानने वाले का तो कहना ही क्या।

इसलिए हम इस निबन्ध में स्वरों के विविध भेद, उनकी वेदार्थ में उपयोगिता और उनकी उपेक्षा से होने वाले भयङ्कर परिणामों का निदर्शन कराकर स्वरों के विभिन्न ग्रन्थों में प्रयुक्त विविध अङ्कन-प्रकारों का वर्णन करेंगे।

अब हम स्वर शब्द के लौकिक और वैदिक वाङ्मय में प्रसिद्ध विविध अर्थों का निदर्शन कराते हैं।

स्वर शब्द के अर्थ

स्वर शब्द लौकिक और वैदिक वाङ्मय में निम्न अर्थों में प्रयुक्त होता है—

१–वाक्—वेद में स्वर शब्द वाक् अर्थ में प्रयुक्त देखा जाता है। यथा—

अधि॑ स्व॒रे (ऋ०८।७२।७)।

सायण इसका अर्थ स्वरोपेते शब्दवति अर्थात् 'स्वरों से युक्त शब्दात्मक वाक्' करता है।

निघण्टु १।११ (३१) में स्वर शब्द वाङ्नामों में पढ़ा है। देवराज यज्वा ने इसकी व्याख्या में माध्यन्दिन संहिता १८।१ का स्वरश्च मे मन्त्रांश उद्धृत किया है। निघण्टु ३।१४ (४१) में स्वरति पद अर्चति (पूजा = स्तुति) अर्थवाले आख्यातों में पढ़ा है। स्तुति शब्द द्वारा ही की जाती है।

२–वर्ण-विशेष—शिक्षा-शास्त्र, भरतनाट्यशास्त्र[1], प्रातिशाख्य, ऋक्तन्त्र और कातन्त्र आदि में स्वर शब्द उन अकारादि वर्णों के लिए प्रयुक्त होता है, जिनका उच्चारण वर्णान्तर की सहायता के विना स्वतन्त्र रूप से होता है।[2] यथा—

विवृतकरणाः स्वराः। आपिशल[3] (३।७) तथा पाणिनीय[4] (३।८) शिक्षा।

अकाराद्याः स्वरा ज्ञेया औकारान्ताश्चतुर्दश। नाट्य-शास्त्र १४।८॥

एते स्वराः। ऋक्प्राति० १।३॥

तत्र स्वराः प्रथमम्। वाजसनेय प्राति० ८।२॥

षोडशादितः स्वराः। तैत्ति० प्राति० १।५॥

अ इति आ इति ·····स्वराः। ऋक्तन्त्र १।२॥

तत्र चतुर्दशादौ स्वराः। कातन्त्र १।१।२॥

पाणिनीय वैयाकरण इन अकारादि स्वरों का 'अच्' प्रत्याहार से और फिट्-सूत्रकार 'अष्' प्रत्याहार[5] से व्यवहार करते हैं। हम भी इस निबन्ध में सन्देह-निवृत्ति के लिए अकारादि वर्णों का निर्देश अच् नाम से करेंगे।

३–षड्जादि सप्तक—संगीत शास्त्र और उनसे सबद्ध प्रकरणों में षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद नामक ध्वनि-विशेषों के लिए स्वर शब्द का प्रयोग होता है। यथा—

---

१. पाश्चात्य विद्वान् तथा उनके अनुयायी भरतनाट्यशास्त्र का काल ईसा की दूसरी से चौथी शताब्दी तक मानते हैं। परन्तु यह सर्वथा अशुद्ध है। भरतनाट्यशास्त्र के कई प्रकरण पाणिनि से प्राचीन काशकृत्स्न व्याकरण और आपिशल शिक्षा के अनुसार हैं। अतः यह पाणिनि से निश्चय ही पूर्ववर्ती ग्रन्थ है। इस पर विशेष विचार के लिए देखो हमारे 'छन्दःशास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ का भरत-प्रकरण। यह ग्रन्थ शीघ्र मुद्रित होगा।

२. स्वयं राजन्त इति स्वराः। महाभाष्य १।२।२९॥

३. आपिशल, पाणिनीय तथा चान्द्रशिक्षा सूत्र हमने प्रकाशित किए हैं।

४. पाणिनीय शिक्षा दो प्रकार की उपलब्ध होती है, सूत्रात्मक तथा श्लोकात्मक। सूत्रात्मक शिक्षा ही पाणिनि-प्रोक्त है, श्लोकात्मक पाणिनि-प्रोक्त नहीं है। इसके लिए देखिए 'साहित्य' (पटना) वर्ष ७ अङ्क ४, पौष २०१३ में हमारा लेख—'मूल पाणिनीय शिक्षा'। इस पर विशेष विचार हमने "शिक्षा-शास्त्र का इतिहास" (अप्रकाशित) ग्रन्थ में किया है।

५ लघावन्ते द्वयोश्च बह्वषो गुरुः। फिट् सूत्र २।१९। चान्द्रटीका (प्रत्याहार सूत्र १२) में उद्धृत तथा आर्षिक पाठ। जर्मन मुद्रित फिट्सूत्र-वृत्ति में 'बह्वशो गुरुः' पाठ है।

षड्जश्च ऋषभश्चैव गान्धारो मध्यमस्तथा ।
पञ्चमो धैवतश्चैव निषाद सप्तम· स्वर ॥ नारदशिक्षा १।२।४॥
शारीरा वैणवाश्चैव सप्त षड्जादिस्वरा । नाट्यशास्त्र ६।२७॥
स्वरा· षड्जर्षभगान्धारमध्यमपञ्चमधैवतनिषादाः। पिङ्गलसूत्र ३।६४॥

यम—ऋक्प्रातिशाख्य १३।४४ की उव्वट की व्याख्या में इन षड्जादि स्वरों का यम नाम से उल्लेख किया है।

क्रुष्टादि सप्तक—पूर्वनिर्दिष्ट षड्जादि सप्तक ही सामगान में क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मन्द्र और अतिस्वार्य नाम से स्मरण किए गए हैं। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य २३।१२ में क्रुष्टादि सप्तक का **यम** शब्द से भी निर्देश किया है।

४–सप्त (सात) संख्या—षड्जादि अथवा क्रुष्टादि अथवा उदात्तादि[1] सात स्वरों की प्रसिद्धि के कारण स्वर शब्द सात संख्या के लिए भी प्रयुक्त होता है। इस अर्थ में स्वर शब्द का प्रयोग पिङ्गल के छन्दःशास्त्र में मिलता है। यथा—

स्वरा अर्धं चार्यार्धम् । ४।१४ ॥[2]

अर्थात्—जहा प्रस्तार में सात गण होते हैं और आधा (=साढ़े सात गण), वह आर्या छन्द का आधा भाग होता है।

५–प्राण—नासिका के दाएं-बाएं रन्ध्र से प्रवाहित होने वाले प्राण के लिए भी प्रयुक्त होता है। यथा—

प्राणः स्वर. । ताण्ड्य ब्रा० ७।१।१०॥
स्वरो नासा समीरिते स्यात् । मेदिनी कोश रान्त ९४ ।

शिवस्वरोदय और हठयोगदीपिका आदि में दाए-बाए नासिकारन्ध्र से प्रवाहित होने वाले प्राण के लिए क्रमशः सूर्यस्वर और चन्द्रस्वर शब्द का व्यवहार उपलब्ध होता है।

६–सूर्य—स्वरशब्द वैदिक वाङ्मय में सूर्य के लिए भी प्रयुक्त होता है। यथा—

---

१. उदात्तादि के सात भेद आगे दर्शाए जाएगे।

२ यह प्रमाण तथा स्वर-सम्बन्धी कुछ अन्य प्रमाण हमने श्री माननीय गुरुवर्य प० भगवत्प्रसाद जी मिश्र वेदाचार्य, राजकीय सस्कृत महाविद्यालय काशी के 'सारस्वती सुषमा' आषाढ़ स० २००६ के अङ्क में प्रकाशित 'किञ्चित् स्वारम्' लेख से लिए हैं।

एष ह वै सूर्यो भूत्वाऽमुष्मिन् लोके स्वरति । तद्यत् स्वरति तस्मात् स्वर । तत् स्वरस्य स्वरत्वम् । गोपथ ब्रा० पूर्वभाग ५।१४॥

७–प्रणव—महामहोपाध्याय मित्रमिश्र ने वीरमित्रोदय के भक्तिप्रकाश खण्ड (पृष्ठ १३८) में एक प्राचीन वचन उद्धृत किया है—

यो वेदादौ स्वरः प्रोक्तो वेदान्ते च प्रतिष्ठितः ।

अर्थात्—जो वेद के आरम्भ में स्वर = ओम् उच्चरित होता है, और वेद के अन्त (समाप्ति) में भी स्थित (= उच्चरित) होता है ।

मित्रमिश्र ने इस वचन की व्याख्या में लिखा है—स्वरः प्रणवः । अर्थात् यहां स्वर नाम प्रणव = ओंकार का है ।

८–उदात्तादि ध्वनिविशेष—वैदिक वाङ्मय में स्वर शब्द उदात्त, अनुदात्त और स्वरित[1] संज्ञक उच्चारण विशेषों के लिए अधिक प्रसिद्ध है । नारदीय, आपिशल, पाणिनीय और चान्द्र आदि शिक्षा ग्रन्थों में उदात्त आदि के लिए स्वर शब्द का व्यवहार उपलब्ध होता है ।

इन उपरिनिर्दिष्ट अर्थों के अतिरिक्त कतिपय अन्य अर्थों में भी स्वर शब्द का क्वाचित्क प्रयोग उपलब्ध होता है ।[2]

स्वर शब्द का नैबन्धिक अर्थ

इस निबन्ध में स्वर शब्द से वैदिक वाङ्मय में प्रसिद्ध उदात्त, अनुदात्त और स्वरित संज्ञक उच्चारण विषयक वर्ण-धर्मों का ग्रहण समझना चाहिए ।

स्वर के पर्याय

प्राचीन ग्रन्थों में उदात्तादि स्वर के लिए स्वार, यम और जाति शब्द का भी प्रयोग देखा जाता है । यथा—

स्वार—कात्यायनीय प्रतिज्ञा परिशिष्ट १।८ में लिखा है—

ब्राह्मणे तूदात्तानुदात्तौ भाषिकस्वारौ ।

अर्थात्—शतपथ ब्राह्मण में उदात्त और अनुदात्त भाषिक स्वार = स्वर होते हैं ।

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य १७।६ तथा २०।८ में स्वार शब्द केवल स्वरित के लिए प्रयुक्त हुआ है ।

---

१. स्वरों के कहीं तीन, कहीं चार, कहीं पांच और कहीं सात भेद वर्णित हैं । उनकी विवेचना अगले अध्याय में की जाएगी ।

२. आपिशल शिक्षा ८।२०,२१ में ध्वनि के लिए स्वर शब्द का प्रयोग मिलता है । अजमेर मुद्रित पाणिनीय शिक्षा में यह भाग त्रुटित है ।

ऋग्वेद प्रातिशाख्य ३।८ में भी स्वरित के साथ स्वार शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है, वह स्वर का पर्याय प्रतीत होता है। ऋ० प्रा० ३।३४ में भी जात्यादि स्वरितों के लिए स्वार शब्द प्रयुक्त हुआ है।

यम—तैत्तिरीय प्रातिशाख्य अध्याय २३ में उदात्तादि स्वरों के लिए यम शब्द का व्यवहार असकृत् उपलब्ध होता है।

ऋक्प्रातिशाख्य १३।४४ के अनुसार षड्ज, ऋषभ आदि सप्त स्वर भी यम कहाते हैं।

जाति—रामायण के टीकाकारों के मतानुसार बालकाण्ड ४।८ में जाति शब्द षड्जादि सात स्वरों के लिए प्रयुक्त हुआ है।

स्वर, स्वार और यम पद का निर्वचन

स्वर— स्वर शब्द स्वृ शब्दोपतापयो. धातु से करण में घ प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है।[1] निघण्टु २।१४ में स्वरति पद गत्यर्थक आख्यातों में पढ़ा है। इसलिए स्वर शब्द का निर्वचन होगा—

स्वर्यन्तेऽर्थो एभिः।[2]

अर्थात्—जिनसे पदों के अर्थ जाने जाए, वे स्वर कहाते हैं।

स्वार—स्वार शब्द भी पूर्वनिर्दिष्ट स्वृ धातु से ही करण में घञ् प्रत्यय होकर बनता है।[3] घ और घञ् दोनों प्रत्यय एक ही अर्थ में हुए हैं। अतः स्वार शब्द का भी वही अर्थ होगा जो स्वर का है।

अनन्तदेव ने प्रतिज्ञा-परिशिष्ट १।८ के पूर्वोद्धृत सूत्र की व्याख्या में लिखा है—

स्वर एव स्वार.। स्वार्थेऽण्।

अर्थात्—स्वर शब्द से स्वार्थ में अण् प्रत्यय होकर स्वार शब्द सिद्ध होता है।

अनन्तदेव की भूल—निस्सन्देह संस्कृत भाषा के अनेक पदों में स्वार्थ में अण् प्रत्यय की प्रवृत्ति देखी जाती है। परन्तु स्वर और स्वार में तो स्वृ धातु से क्रमशः घ और घञ् प्रत्यय ही हुए हैं। संस्कृत भाषा में घ अथवा अप् और घञ् प्रत्ययान्त अनेक ऐसे समानार्थक शब्द हैं, जिनमें केवल ह्रस्व-दीर्घ अकार का ही भेद है।[4] यथा—

---

१ अष्टा० ३।३।११८॥

२. अमरकोश-भानुजीदीक्षित व्याख्या १।६।४॥

३. अष्टा० ३।३।११७॥

४. इस प्रकार के द्विविध शब्दों की सत्ता का ज्ञान न होने से औत्तर-कालिक कवियों ने एक नियम बनाया—'अपि माषं मषं कुर्याच्छन्दोभङ्गं न

पद-पाद, विसर-विसार[1], प्रसर-प्रसार[1], उपरम[2]-उपराम[3], विश्रम[4]-विश्राम[4]।[5]

यम—यम शब्द यम उपरमे धातु से करण में अप प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है।[6] इसलिए इसका भी निर्वचन होगा—

नियम्यन्तेऽर्था एभिरिति।

अर्थात्—जिनसे शब्दार्थ का नियमन हो, उन्हें यम कहते हैं।

स्वरों अथवा यमों से अर्थों का ज्ञान अथवा नियमन कैसे होता है, यह हम साधारणतया पञ्चम अध्याय तथा विशेष रूप से अष्टम अध्याय में सोदाहरण दर्शाएंगे।

अब अगले अध्याय में स्वरों के भेद और उनके उच्चारण-प्रकार का वर्णन करेंगे।

कारयेत्।' अर्थात् यदि कहीं एक मात्रा के अधिक होने से छन्दोभङ्ग होता हो वहां 'माष' आदि दीर्घ स्वरवाले शब्दों के स्थान पर 'मष' आदि ह्रस्व स्वरवाले शब्दों का प्रयोग कर देना उचित है, परन्तु छन्दोभंग नहीं करना चाहिए। वास्तविक बात यह है कि प्राचीन आदि-भाषा अथवा अति-भाषा में ह्रस्व-दीर्घ उभयविध स्वरवाले शब्दों का बाहुल्य था।

१. क्षीरतरङ्गिणी १।६६७ पृष्ठ १४० पं० १४॥

२. काशिका ७।३।३४॥

३. दुर्घट वृत्ति पृष्ठ ११७, भर्तृहरि का मत।

४. विश्रम-भागवृत्तिकार के मत में, विश्राम-चान्द्रव्याकरण (६।१।४२) के अनुसार, दोनों ही युक्त—वर्धमान तथा क्षीरतरङ्गिणी ३।९७, पृष्ठ २१६ पं० १९।

५. इस प्रकार की ह्रस्व दीर्घ विषयक द्विविध प्रवृत्ति अनेक प्रयोगों में देखी जाती है। यथा—उपनयन-उपनायन (या० स्मृ० ११४), अतिशयन-अतिशायन (अष्टा० ५।३।५५), पुरुष-पूरुष, नरक-नारक, शिक्षा-शीक्षा (तै० उ० ११५), स्वरवर्णकर (पा० शिक्षा) स्वरवर्णकार (आप० शिक्षा) इत्यादि।

६. अष्टा० ३।३।६३।

द्वितीय अध्याय

स्वरों के भेद और उनका उच्चारण प्रकार

स्वरों के भेद

वैदिक वाङ्मय में उदात्त आदि स्वरों के अनेक भेद उल्लिखित हैं। कहीं सात, कहीं पाच, कहीं चार, कहीं तीन, कहीं दो और कहीं एक ही स्वर का उल्लेख मिलता है। हम इन सब भेदों का क्रमशः निर्देश करेंगे।

सात स्वर—महाभाष्य १।२।३३ में सात स्वर इस प्रकार गिनाए हैं—

सप्त स्वरा भवन्ति—उदात्तः, उदात्ततरः, अनुदात्तः, अनुदात्ततरः, स्वरितः, स्वरिते य उदात्तः सोऽन्येन विशिष्टः[1], एकश्रुतिः सप्तमः।

अर्थात्—उदात्त, उदात्ततर, अनुदात्त, अनुदात्ततर, स्वरित, स्वरित के आरम्भ में विद्यमान उदात्त (अन्य उदात्त से भिन्न)[1] और एकश्रुति ये सात स्वर होते हैं।

नारदीय शिक्षा में सामगानोपयोगी सात स्वरों का विधान मिलता है। वे सात स्वर हैं—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद। माषिक सूत्र ३।१६, १७ में भी इनका निर्देश उपलब्ध होता है। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य २३।१४ में इन्हें क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मन्द्र और अतिस्वार्य कहा है।[2] नारद शिक्षा १।१२ में इन नामों से भी सामस्वर का विधान किया है।

महाभाष्य के सात स्वरों का षड्जादि अथवा क्रुष्टादि सात स्वरों के साथ क्या संबन्ध है, यह हम अभी कहने में असमर्थ हैं। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य अ० २३ तथा नारदीय शिक्षा के गहरे अनुशीलन से इनके पारस्परिक संबन्ध पर प्रकाश

---

१. तुलना करो–तैत्ति० प्राति० १।४१॥

२. इन्हीं सात स्वरों का स्थानविशेष से संबन्ध होने पर २१ संख्या होती है। द्रष्टव्य—नारदीय शिक्षा २।४, तै० प्रा० २३।१३,१४॥ सात स्वरों के साकर्य से ४९ प्रकार बनते हैं। नारदीय शिक्षा २।४ में इनकी गणना इस प्रकार की है—सात स्वर, तीन ग्राम (तै० प्रा०–तीन स्थान, माषिक० ३।१८–योनि), २१ मूर्च्छना और ४९ तान। यह स्वर-मण्डल कहलाता है।

पड सकता है। सम्भव है उदात्तादि सात स्वर ही सामगान में षड्जादि अथवा क्रुष्टादि नाम से व्यवहृत होते हों।

पांच स्वर—नारद शिक्षा ७।१९ में उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, प्रचित (प्रचय) और निघात नामक स्वरों का वर्णन मिलता है। यथा—

उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितप्रचिते तथा।
निघातश्चेति विज्ञेय. स्वरभेदस्तु पञ्चमः॥

इन में उल्लिखित प्रचित अथवा प्रचय एकश्रुति का ही दूसरा नाम है। निघात शब्द साधारणतया अनुदात्त अर्थ में प्रसिद्ध है, परन्तु नारद शिक्षा में निघात शब्द उस अनुदात्त विशेष के लिए प्रयुक्त हुआ है जो उदात्त अथवा स्वरित परे रहने पर एकश्रुति न होकर अनुदात्त ही बना रहता है, अथवा अष्टाध्यायी १।२।४० के अनुसार अनुदात्ततर होता है।

नारदीय शिक्षा के पूर्वोद्धृत श्लोक (७।१९) की व्याख्या में शोभाकर भट्ट ने प्रचित (प्रचय) और निघात को स्वरित का भेद माना है, वह विचारणीय है।

चार स्वर—कई आचार्य उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और प्रचय चार स्वर मानते हैं। प्रचय का अर्थ एकश्रुति है।[1] तैत्तिरीय संहिता में ये चार स्वर प्रयुक्त होते हैं।[2] भाषिक सूत्र ३।२६ के अनुसार तैत्तिरीय चरण की औखेय तथा खाण्डिकेय शाखा में कहीं कहीं चातुःस्वर्य था। ये शाखाएं सम्प्रति अप्राप्य हैं।

तीन स्वर—कई संहिताओं में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित तीन स्वरों का ही उच्चारण होता है। यथा—शाकल, माध्यन्दिन, काण्व, कौथुम तथा शौनक संहिताएं। नारदीय शिक्षा १।११ तथा तैत्तिरीय प्रातिशाख्य २३।१६ के अनुसार आह्वरक शाखा में भी तीन ही स्वर थे। भाषिक परिशिष्ट ३।२५ में चरक ब्राह्मण में मन्त्रवत् स्वर कहा है।[3] इस सूत्र की उत्थानिका में अनन्त देव तैत्तिरीयब्राह्मणस्वरमाह लिखता है। तैत्तिरीय संहिता में चार स्वरों का उच्चारण होता है, यह हम पूर्व लिख चुके। अनन्तदेव प्रतिज्ञा परिशिष्ट १।८ की

---

१. उभयकरणरहितः प्रचयः, उभयकरणसमावेशजन्यः स्वरित इति। तै० प्रा० २३।१९ वैदिकाभरण व्याख्या। सायण भी—'ऐकश्रुत्यं प्रचयनामकं भवति' (ऋ० भाष्य १।१।१) लिखता है।

२. नारदीय शिक्षा १।११॥ तै० प्राति० २३।१८-२० वैदिकाभरण व्याख्या।

३ मन्त्रस्वरवद् ब्राह्मणस्वरश्चरकाणाम्।

कि जिन शाखाओं का जो स्वर (त्रैस्वर्य अथवा चातुःस्वर्य) है, क्या प्रवचन-काल में उनका उन स्वरों में प्रवचन नहीं किया गया ?

यदि प्रावचन स्वर का अभिप्राय 'जिस शाखा का प्रवचन काल में जो त्रैस्वर्य अथवा चातुःस्वर्य था, उसका वही स्वर है' ऐसा समझा जाए तो प्रातिशाख्य सूत्र की कथचित् संगति लग सकती है, परन्तु उस अवस्था में उव्वट की व्याख्या त्याज्य होगी।

त्रैस्वर्य की प्रधानता—इन अनेकविध स्वरों में त्रैस्वर्य ही प्रधान है। इन्हीं का साक्षात् पदार्थ के साथ सबन्ध है। अर्थ की दृष्टि से इन तीन स्वरों में भी उदात्त स्वर ही सर्वप्रधान है।

उदात्त आदि स्वर किन वर्णों के धर्म हैं

वर्ण दो प्रकार के हैं, स्वर तथा व्यञ्जन। पाणिनीय परिभाषा में इन्हें अच् और हल् कहते हैं। स्वरशास्त्र के अनुसार उदात्त आदि समस्त स्वर, स्वर अर्थात् अच् सज्ञक वर्णों के ही धर्म हैं, व्यञ्जनों के नहीं। क्योंकि स्वर = अच् ही ऐसे वर्ण हैं जिनका विना अन्य वर्ण की सहायता के उच्चारण होता है।[1] अतः उदात्त आदि स्वर = उच्चारण धर्म स्वरों = अचों के ही हो सकते हैं, व्यञ्जनों के नहीं।

उदात्त आदि स्वरों के लक्षण और उच्चारण-विधि

उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरों के लक्षण तथा इन के उच्चारण की विधि का उल्लेख अनेक ग्रन्थों में मिलता है। हम उन में से कतिपय लक्षण और उच्चारण विधियों का निर्देश करते हैं।

उदात्त आदि स्वरों के लक्षण—उदात्त आदि स्वरों के कतिपय लक्षण इस प्रकार हैं—

उदात्त—उच्चैरुदात्त। अष्टा० १।२।२९॥ वाज० प्राति० १।१०८॥ तैत्ति० प्राति० १।३८॥

अनुदात्त—नीचैरनुदात्त। अष्टा० १।२।३०॥ वाज० प्राति० १।१०९॥ तैत्ति० प्राति० १।३९॥

स्वरित—समाहार स्वरित.। अष्टा० १।२।३१॥ तैत्ति० प्राति० १।४०॥ उभयवान् स्वरित। वाज० प्राति० १।११०॥

इन सूत्रों का अभिप्राय नीचे लिखी उच्चारण-विधि से स्पष्ट होगा। इसलिए यहां इन का अर्थ नहीं लिखा।

उदात्त आदि स्वरों की उच्चारण-विधि—उदात्त आदि स्वर वर्ण-धर्म हैं।

1. स्वय राजन्त इति स्वरा। महाभाष्य १।२।२०॥

इन का उच्चारण से भेद स्पष्ट होना चाहिए। परन्तु स्वरों का सूक्ष्म उच्चारण प्रकार चिरकाल से लुप्तप्राय है। महाराष्ट्रीय कुलपरम्परागत वृद्ध ऋग्वेदीय ब्राह्मणों में कतिपय श्रोत्रिय उदात्त आदि स्वरों के सूक्ष्म उच्चारण करने में समर्थ हों, यह अभी सम्भव है। परन्तु अधिकतर श्रोत्रिय हस्त आदि अङ्ग चालन के द्वारा ही उदात्त आदि स्वरों का द्योतन कराते हैं, उनके मुख से सूक्ष्म उच्चारण में वे प्रायः असमर्थ हैं। अतः हम इन स्वरों की प्राचीन शास्त्रों में उल्लिखित विधियों का नीचे निर्देश करते हैं।

१—कतिपय वैयाकरण पूर्वनिर्दिष्ट पाणिनीय सूत्रों का यह अभिप्राय समझते हैं कि उदात्त का उच्च ध्वनि से, अनुदात्त का नीच (निम्न) ध्वनि से और स्वरित का मध्यम ध्वनि से उच्चारण करना चाहिए।[1]

२—महाभाष्यकार पतञ्जलि ने लिखा है कि अकारादि वर्णों के उच्चारण के जो कण्ठ आदि स्थान हैं, उन स्थानों के उच्च, नीच और मध्य तीन विभाग करके उच्चभाग से उदात्त का, निम्न भाग से अनुदात्त का और मध्य भाग से स्वरित का उच्चारण करना चाहिए।[2]

३—वाजसनेय प्रातिशाख्य के व्याख्याता उव्वट और अनन्त भट्ट का कथन है कि गात्रों (अङ्गों) के ऊर्ध्वगमन (चुस्ती) से जो स्वर उत्पन्न होता है, वह उदात्त कहाता है। इसी प्रकार गात्रों के अधोगमन (ढीलेपन) से अनुदात्त और दोनों प्रयत्नों के संमिश्रण से स्वरित स्वर का उच्चारण होता है।[3]

४—ऋक्प्रातिशाख्य ३।१ में आयाम, विश्रम्भ और आक्षेप से क्रमशः उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के उच्चारण का विधान किया है।[4] इस सूत्र की व्याख्या में उव्वट लिखता है—आयाम अर्थात् वायु के कारण शरीरावयवों का जो उर्ध्व-गमन होता है, उससे जो ध्वनि उच्चरित होती है, वह उदात्त कहाती है। इसी प्रकार विश्रम्भ अर्थात् वायु के कारण गात्रों के अधोगमन से अनुदात्त और

---

१. यह अर्थ महाभाष्य १।२।२९,३० के 'उच्चनीचस्यानवस्थितत्वात् संज्ञा-प्रसिद्धिः' वार्तिक के व्याख्यान से ध्वनित होता है।

२. समाने प्रक्रम इति वक्तव्यम्। कः पुनः प्रक्रमः? उरः कण्ठः शिर इति। महाभाष्य १।२।२९,३०॥ तैत्ति० प्राति० १।३८-४० सूत्रों की व्याख्या गार्ग्य गोपाल यज्व ने इसी पक्ष के अनुसार की है।

३. द्र० वाज० प्राति० १।१०८-११० की व्याख्याएं।

४. उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च त्रयः स्वरा। आयामविश्रम्भाक्षेपैस्त उच्यन्ते॥

उदात्ततर[1] होती है। शेष मात्रा उदात्तसम, अथवा शेष मात्रा अनुदात्ततर होती है।

प्रथम सूत्र में 'उदात्तादन्तरे' ग्रहण से विदित होता है कि इस सूत्र में उसी स्वरित के विषय में उल्लेख है, जो उदात्त से परे अनुदात्त स्वरित भाव को प्राप्त होता है। अतः जात्य आदि स्वरितों में यह व्यवस्था नहीं होनी चाहिए, परन्तु तैत्तिरीय संहिता में जात्यस्वरित में भी यही व्यवस्था दिखाई पड़ती है। सम्भव है, प्रातिशाख्य का नियम किसी शाखाविशेष के लिए हो। क्योंकि प्रातिशाख्यों का प्रवचन अपने चरण की सभी अवान्तर शाखाओं की दृष्टि से किया जाता है।[2]

द्वितीय सूत्र की व्याख्या में सोमार्य लिखता है—

समशब्दप्रयोगात् किञ्चिन्न्यूनत्वं प्रतीयते, अन्यथा स्वरिताभावात्।

अर्थात्—सूत्र में 'सम'ग्रहण से उदात्त से कुछ न्यूनत्व (पूर्ण उदात्तत्व का अभाव) समझना चाहिए, अन्यथा स्वरितत्व ही उपपन्न नहीं होगा, क्योंकि स्वरितत्व के लिए उदात्त और अनुदात्त का योग होना आवश्यक है।

तृतीय सूत्र की व्याख्या में गार्ग्य गोपाल यज्वा लिखता है कि शेषांश के अनुदात्ततरत्व का मत अन्य शाखाओं की दृष्टि से कहा है।

वाजसनेय प्रातिशाख्य में लिखा है—

तस्यादित उदात्तं स्वरार्धमात्रम्। १।१२६॥

उव्वट और अनन्तभट्ट ने इस सूत्र की व्याख्या में ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत सभी स्वरितों के आरम्भ की अर्धमात्रा उदात्त मानी है, शेष यथाक्रम आधी, डेढ और ढाई अनुदात्त। परन्तु सूत्र की पदावली से विदित होता है कि यहाँ ह्रस्व दीर्घ प्लुत स्वरों की जितनी जितनी मात्रा होती है उस उसके आधे भाग का उदात्तत्व और आधे भाग का अनुदात्तत्व इष्ट है। तदनुसार ह्रस्व में आधी मात्रा उदात्त, आधी अनुदात्त; दीर्घ में एक मात्रा उदात्त, एक मात्रा अनुदात्त तथा प्लुत में डेढ मात्रा उदात्त और डेढ़ मात्रा अनुदात्त होती है। ऋग्वेद प्रातिशाख्य के आगे उद्ध्रियमाण वचन से यह स्पष्ट हो जायगा कि यह मत भी किन्हीं आचार्यों को इष्ट था।

ऋक्प्रातिशाख्य में स्वरित की व्यवस्था इस प्रकार कही है—

---

१. तुलना करो—स्वरिते च उदात्तः, सोऽन्येन विशिष्टः। महाभाष्य १।२।३३॥

२. तुलना करो—पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि। निरुक्त १।१७॥

तस्योदात्ततरोदात्तादर्धमात्रार्धमेव वा । ३।४॥
अनुदात्त: पर: शेष स उदात्तश्रुति: । ३।५॥

अर्थात्—उदात्त से परे स्वरित की अर्धमात्रा उदात्ततर होती है, अथवा स्वरित का आधा भाग उदात्ततर होता है।[1] शेष पर का अनुदात्त भाग उदात्तश्रुति वाला होता है।[2]

प्रथम सूत्र की उव्वट की व्याख्या अस्पष्ट है। हमने उपर्युक्त अर्थ तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के पूर्व उद्धृत तस्यादिरुच्चैस्तरामुदात्तादन्वरे यावदर्धं ह्रस्वस्य (१।४१) सूत्र के आधार पर किया है।[3]

उव्वट की भूल—उव्वट ने वाजसनेय प्रातिशाख्य १।१२६ तथा ऋक्प्रातिशाख्य ३।५ की व्याख्या में उदात्त और अनुदात्त के मेल से उत्पन्न होनेवाले स्वरित के लिए निम्न दृष्टान्त दिया है—

यथा त्रपुताम्रयो: संयोगे धात्वन्तरस्य कांसस्योत्पत्ति: ।

अर्थात्—जिस प्रकार त्रपु (सीसा) और ताम्र के संयोग से कांसा नाम की नवीन धातु उत्पन्न होती है, उसी प्रकार उदात्त और अनुदात्त के संयोग से स्वरित नामवाला नया स्वर निष्पन्न होता है।

उव्वट का उक्त दृष्टान्त अशुद्ध है, क्योंकि कांसे में त्रपु और ताम्र का संयोग उसके प्रत्येक अवयव में होता है, भिन्न-भिन्न प्रदेशों में वे धातुएँ पृथक् पृथक् उपलब्ध नहीं होतीं, परन्तु स्वरित में उदात्त अनुदात्त धर्मों का सर्वावयवों में संयोग नहीं होता, अपितु उसके आदि भाग में उदात्त धर्म रहता है और उत्तर में अनुदात्त धर्म। अत: यह दृष्टान्त विषम होने से त्याज्य है।

अनन्तभट्ट द्वारा अन्धानुकरण—वाजसनेय प्रातिशाख्य के दूसरे व्याख्याता अनन्तभट्ट ने उव्वट का अन्धानुकरण करते हुए उपर्युक्त दृष्टान्त ही लिखा है।

उव्वट का दूसरा विषम दृष्टान्त—उव्वट ने वाजसनेय प्रातिशाख्य १।१२६ में दूसरा दृष्टान्त 'गुडदध्नोरेकीभावे मार्जिकोत्पत्ति:' अर्थात्

---

१. उव्वट ने द्विमात्रिक स्वरित के लिए यह व्यवस्था मानी है। हमारे विचार में यह पाक्षिक व्यवस्था ह्रस्व दीर्घ प्लुत सभी स्वरितों के लिए होनी चाहिए।

२. तुलना करो—उदात्तसम: शेष:। तै० प्रा० १।४२ के साथ।

३. इस सूत्र की व्याख्या में हमने जो दोष दर्शाया है, वह ऋक्प्रातिशाख्य के विषय में भी उसी प्रकार समझना चाहिए।

'जैसे गुड और दही के योग से मार्जिका (=रसाला—अमरकोश, संभवतः श्रीखण्ड) नामक वस्त्वन्तर निष्पन्न होती है'—दिया है। यह उदाहरण भी पूर्व उदाहरण के समान ही सदोष है। क्योंकि मार्जिका के प्रत्येक अवयव में गुड और दही सयोग विद्यमान है। स्वरित के प्रत्येक अवयव में उदात्त धर्मों का योग नहीं होता।

शुद्ध दृष्टान्त—स्वरित में उदात्त और अनुदात्त धर्मों का संयोग किस प्रकार का होता है, इसका ठीक दृष्टान्त जतु-काष्ठ-संयोग का है।[1] जैसे लाख के और काष्ठ के टुकडों का संयोग होने पर एक भाग में लाख और दूसरे भाग में काष्ठ रहता है, उसी प्रकार स्वरित के एक भाग में उदात्त और अपर भाग में अनुदात्त विद्यमान होता है।

तान, प्रचय अथवा एकश्रुति—हम पूर्व लिख चुके हैं कि तान, प्रचय और एकश्रुति शब्द पर्याय हैं। इस एकश्रुति स्वर के उच्चारण के विषय में आचार्यों में मतभेद है। हम यहाँ उनका निर्देश करना आवश्यक समझते हैं।

१–त्रैस्वर्य का अभेद–पाणिनीय वैयाकरण प्रचय का एकश्रुति शब्द से निर्देश करते हैं। इस एकश्रुति पद की व्याख्या में काशिकाकार लिखता है—

स्वराणामुदात्तादीनामविभागोऽभेदस्तिरोधानमेकश्रुति ।१।२।३३ ॥

अर्थात्—उदात्तादि स्वरों का अविभाग अथवा अभेद अथवा भेद का तिरोहित हो जाना एकश्रुति कहाता है।

२–त्रैस्वर्य का अत्यन्त सन्निकर्ष—आचार्य आश्वलायन का मत है—

उदात्तानुदात्तस्वरितानां परः सन्निकर्ष ऐकश्रुत्यम्। आ० श्रौत ।१।२॥

अर्थात्—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरों की अत्यन्त सन्निकर्षता = सामीप्यता एकश्रुति कहाती है।

३–उदात्त अनुदात्त से रहित—तैत्तिरीय प्रातिशाख्य का व्याख्याता गार्ग्यगोपाल यज्वा २३।१९ की व्याख्या में प्रचय स्वर को उदात्त और अनुदात्त धर्मों से रहित मानता है—उभयकरणरहित प्रचय.।

स्वरित में उदात्त और अनुदात्त के धर्मों का सद्भाव होता है—उभयकरण-समावेशजन्य. स्वरित इति (तै० प्रा० २३।१९ व्याख्या)। गार्ग्यगोपाल यज्वा के मत में यही प्रचय और स्वरित का भेद है।

४–उदात्त श्रुति—आचार्य शौनक के मत में प्रचय = एकश्रुति का उच्चारण उदात्त के समान होता है। ऋक्प्रातिशाख्य में लिखा है—

---

१. महाभाष्य १।२।३२ में यह उदाहरण दिया है।

स्वरितादनुदात्तानां परेषां प्रचयः स्वरः ।
उदात्तश्रुतितां यान्त्येकं द्वे वा बहूनि वा ॥ ३।१९ ॥

अर्थात्—स्वरित से परे एक, दो अथवा बहुत (जितने भी संभव हों) अनुदात्तों को प्रचय स्वर होता है और वह उदात्त श्रुति वाला होता है ।

नारदीय शिक्षा १।८।२ के अनुसार प्रचय अथवा एकश्रुति उदात्तरूप मानी गई है—

य एवोदात्त इत्युक्त. स एव स्वरितात् परः ।
प्रचयः प्रोच्यते तज्ज्ञै.……………… ॥

महाभाष्य १।२।३३ से भी विदित होता है कि कई आचार्य एकश्रुति को उदात्तश्रुति मानते थे ।[1]

५–अनुदात्तश्रुति—महाभाष्य १।२।३३ से यह भी विदित होता है कि कई आचार्य एकश्रुति को अनुदात्तश्रुति मानते थे ।[2]

इन दोनों अर्थात् एकश्रुति की उदात्तश्रुति और अनुदात्तश्रुति में शुद्ध उदात्त और शुद्ध अनुदात्त श्रुति से कुछ भेद माना गया है । यह भी महाभाष्य १।२।३३ से ही व्यक्त है ।[3]

६–उदात्तानुदात्त का सम्मिश्रण—याज्ञवल्क्य शिक्षा में प्रचय को स्वरित मानते हुए भी उसमें कुछ वैलक्षण्य दर्शाया है । यथा—

उदात्तानुदात्तयोगे स्वरितः स्वर उच्यते ।
ऐक्यं तत्प्रचय. प्रोक्तः सन्धिरेष मिथोऽद्भुतः ॥१।९०॥

अर्थात्—उदात्त और अनुदात्त का योग स्वरित कहाता है और उदात्त अनुदात्त का एकीभाव हो जाना प्रचय कहाता है ।

इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार समझना चाहिए कि स्वरित में उदात्त और अनुदात्त का संयोग होता है । उसके आदिभाग में उदात्त और अपर भाग में

---

१. 'उदात्ता [एकश्रुति.] । कथ ज्ञायते ? यदयमुच्चैस्तरां वा वषट्कार इत्याह ।……उच्चैर्दृष्ट्वा उच्चैस्तरामित्येतद् भवति' ।

२. 'अनुदात्ता च [एकश्रुतिः] । कथं ज्ञायते ? यदयम् उदात्तस्वरित-परस्य सन्नतर इत्याह ।…'सन्न दृष्ट्वा सन्नतर इत्येतद् भवति' ।

३. महाभाष्य में शुद्ध उदात्त और शुद्ध अनुदात्त से एकश्रुति को पृथक् गिना है—उदात्तः, उदात्ततरः, अनुदात्तः, अनुदात्ततरः, स्वरित., स्वरिते य उदात्तः सोऽन्येन विशिष्टः, एकश्रुति. सप्तम ।

से परे अनुदात्त को जो स्वरित होता है, उसे संहितज-स्वरित अथवा सामान्य-स्वरित कहते हैं।[1] यथा—

एक पद में—पुरोहितम्, यज्ञस्य (ऋ० १।१।१)।

अनेक पदों में—अग्निम् ईळे = अग्निमीळे (ऋ० १।१।१)।

पाणिनि ने इस संहितज स्वरित का विधान उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः (अष्टा० ८।४।६६) सूत्र से किया है।

२–जात्य—जो स्वरित अपनी जाति = जन्म = स्वभाव से स्वरित होता है, अर्थात् जो किसी उदात्त वर्ण के संयोग से अनुदात्त स्वरितभाव को प्राप्त नहीं होता, उसे जात्य-स्वरित कहते हैं।[2] तैत्तिरीय प्रातिशाख्य (२०।३) में इसे नित्य-स्वरित कहा है।[3] यथा—

कन्या, धान्यम्, क्व, स्वः[4]।

पाणिनीय व्याकरणानुसार 'कन्या' में कनी (= कन) धातु से यत् तथा 'धान्य' में जौहोत्यादिक धन धातु से ण्यत् प्रत्यय होता है। उणादि ४।१११ की वृत्तियों के अनुसार कन्या यक् प्रत्ययान्त निपातित है। और धान्य में उणादि ५।४८ के अनुसार यत् प्रत्यय होता है। इन में यत् पक्ष में तित्स्वरितम्[5]

---

१. अन्तोदात्त पूर्वपद से उत्तर अनुदात्तादि उत्तरपद के आद्य अक्षर को जो स्वरित होता है (यथा-अग्निमीळे), उसे तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में 'प्रातिहित-स्वरित' कहा है। देखो संख्या ९ का स्वरित।

२ 'जात्या स्वभावेनैव उदात्तसंगतेर्विना [यः स्वरितो] जायते स जात्यः। ऋक्प्राति० ३।८ उव्वट-व्याख्या।

३ यह स्वरित पदपाठ में भी स्वरित ही बना रहता है। अनेक पदस्थ संहितज स्वरित पदपाठ में अनुदात्त हो जाता है (यथा—अग्निम्, ईळे)। अतः संहितज स्वरित की दृष्टि से इसे 'नित्य स्वरित' कहा है।

४ अव्युत्पन्नपक्ष में। व्युत्पन्न पक्ष में 'सु + अर्' सन्धि मानने पर संख्या ४ का 'क्षैप्र स्वरित' नाम होगा।

५. स्वर-प्रकरण में कहीं-कहीं अपवाद सूत्र की प्रवृत्ति न होकर उत्सर्ग सूत्र की ही प्रवृत्ति होती है। इस विषय पर हमने वेदवाणी कार्तिक सं० २००९ के वेदाङ्क 'दुष्कृताय चरकाचार्यम्' लेख में विस्तार से लिखा है। तदनुसार कन्या में 'यतोऽनावः' (अष्टा० ६।१।२१३) अपवाद सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती। (दुष्कृताय चरकाचार्यम्—लेख पृथक् पुस्तकरूप में भी छप चुका है। उसका पृष्ठ १६-१८ देखें)।

(अष्टा० ६।१।१८२) इस उत्सर्ग सूत्र से, यक् पक्ष में निपातन से और थ्यत् में तित्स्वरितम् से स्वरित होता है। 'क्व' में किमोऽत् (अष्टा० ५।३।१२) से अत् प्रत्यय होता है। यहाँ भी तित्स्वरितम् से स्वरित होता है। 'स्वर्' अव्युत्पन्न पक्ष में न्यङ्स्वरौ स्वरितौ इस फिट् सूत्र से स्वरित होता है। इस प्रकार इन स्वरितों में उदात्त-संयोग कारण नहीं है।

३-अभिनिहित—एकार तथा ओकार से परे जहां ह्रस्व अकार का लोप अथवा पूर्वरूप होता है, उस सन्धि को प्रातिशाख्यों में अभिनिहित सन्धि कहते हैं। इस सन्धि के कारण उदात्त एकार अथवा उदात्त ओकार (चाहे वह स्वतन्त्र रूप से हो अथवा सन्धि से बना हो) से परे अनुदात्त अकार का लोप अथवा पूर्वरूप होने पर जो स्वरित होता है, उसे अभिनिहित सन्धि के कारण अभिनिहित-स्वरित कहते हैं। यथा—

ते + अवन्तु = तेऽवन्तु (माध्य० सं०[1] १९।५७, ५८)।

वेदः + असि = वेदोऽसि (माध्य०[1] २।२१)।

पाणिनीय लक्षणानुसार यहां एङः पदान्तादति (अ० ६।१।१०८) से पूर्वरूप एकादेश और स्वरितो वाऽनुदात्ते पदादौ (अ० ८।२।६) से स्वरित होता है।

४-क्षैप्र—इ उ ऋ ऌ के स्थान में स्वर = अच् परे रहने पर जो य् व् र् ल् (यण्) आदेश रूप सन्धि होती है, उसे प्रातिशाख्यों में क्षैप्र सन्धि[2] कहते हैं। इसी क्षैप्र सन्धि के अनुसार जहां उदात्त इकार उकार के स्थान में य् व् आदेश होने पर अगले अनुदात्त स्वर को स्वरित हो जाता है, उसे क्षैप्र स्वरित कहते हैं। यथा—

---

१. माध्यन्दिनसंहिता में इसका 'तेऽवन्तु-वेदोऽसि' विशिष्ट चिह्न प्रयुक्त होता है। देखो माध्यन्दिनस्वराङ्कन प्रकार (अध्याय १०)। हमने ऋग्वेदानुसार सामान्य चिह्न का प्रयोग किया है।

२. इ उ ऋ ऌ और य् व् र् ल् के उच्चारण स्थान क्रमशः समान हैं। इ उ ऋ ऌ का उच्चारण काल ह्रस्व दीर्घ और प्लुत भेद से एक मात्रा दो मात्रा और तीन मात्रा है। य् व् र् ल् का उच्चारण काल अर्धमात्रा है। यतः इस सन्धि में इ उ ऋ ऌ का ही य् व् र् ल् के रूप में क्षिप्र (स्वल्पकाल में) उच्चारण होता है, अतः य् व् आदि क्षैप्र वर्ण कहाते हैं। इसी कारण य् व् आदि की सन्धि क्षैप्र सन्धि कहाती है।

वाजी + अर्वन् = वाज्यर्वन् (माध्य० सं०[1] ११।४४)।

नु + इन्द्र = न्विन्द्र (ऋ० १।८२।१)।

पाणिनीय लक्षण के अनुसार यहां उदात्तस्थानीय यण् (य् व् र् ल्) के अनन्तर अनुदात्त स्वर को उदात्तस्वरितयोर्यण स्वरितोऽनुदात्तस्य (अ० ८।२।४) से स्वरित होता है।

५–प्रश्लिष्ट—दो स्वरों (अचों) के मिलने से जो सन्धि होती है उसे प्रश्लिष्ट सन्धि कहते हैं। प्रश्लिष्ट सन्धि के कारण होने वाला स्वरित प्रश्लिष्ट-स्वरित कहाता है। प्रातिशाख्यों के अनुसार प्रश्लिष्ट सन्धि पाँच प्रकार की होती है। यथा—

क—अ आ, इ ई, उ ऊ, ऋ ॠ, इनका परस्पर सवर्ण दीर्घरूप एकादेश (अकः सवर्णे दीर्घः—अष्टा० ६।१।१००)।

ख—अ + इ, इनका एकाररूप एकादेश (आद् गुणः—अष्टा० ६।१।८७)।

ग—अ + उ, इनका ओकाररूप एकादेश (आद् गुणः—अष्टा० ६।१।८७)।

घ—अ + ए, इनका ऐकाररूप एकादेश (वृद्धिरेचि—अष्टा० ६।१।८८)।

ङ—अ + ओ, इनका औकाररूप एकादेश (वृद्धिरेचि—अष्टा० (६।१।८८)।

इन सभी प्रश्लिष्ट सन्धियों में सब वैदिक संहिताओं में एक जैसा स्वर उपलब्ध नहीं होता। इसलिए जिस संहिता में जैसा स्वर देखा जाता है, उसका विधान नीचे करते हैं—

I शाकल, शुक्लयजु (माध्य० काण्व) और मैत्रायणी संहिता में—इन संहिताओं में उदात्त ह्रस्व इकार को अनुदात्त ह्रस्व इकार परे रहने पर जो दीर्घरूप प्रश्लिष्ट सन्धि होती है, वहीं स्वरितत्व देखा जाता है। अतः इनकी दृष्टि से यही स्वरित प्रश्लिष्ट स्वरित कहाता है। यथा—

सुचि + इव = सुचीव (ऋ० १०।६१।१५)।

अभि + इन्धताम् = अभीन्धताम् (माध्य० सं०[2] ११।६१। काण्व १२।६३)।

---

१. माध्य० सं० में इस स्वरित के लिए भी 'वाज्यर्वन्' ऐसा विशिष्ट चिह्न प्रयुक्त होता है। देखो अध्याय १०।

२. माध्यन्दिन संहिता में 'अभीन्धताम्' विशिष्ट स्वरित चिह्न प्रयुक्त होता है। देखो अध्याय १०।

अभि + इन्द्राम् = अभीन्द्राम् (मै० सं०[1] २।७।६)

तैत्तिरीय संहिता में ऐसे स्थानों में दीर्घरूप सन्धि उदात्त होती है।

यथा—अभीन्धताम् (४।१।६)।

II. तैत्तिरीय संहिता में—तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के अनुसार उदात्त ह्रस्व उकार से परे अनुदात्त ह्रस्व उकार के परे रहने पर जो दीर्घरूप प्रश्लिष्ट सन्धि होती है, वहीं स्वरितत्व देखा जाता है। अतः तै० सं० में यही स्वरित प्रश्लिष्ट स्वरित कहाता है। यथा—

सु + उद्गाता = सूद्गाता (७।१।८)।

शाकलसंहिता और शुक्लयजुःसंहिता में ऐसे स्थानों में दीर्घरूप सन्धि उदात्त होती है।

III. ऋग्वेद की माण्डूकेय संहिता में—ऋग्वेद की सम्प्रति विनष्ट माण्डूकेय शाखा के सम्बन्ध में ऋक्प्रातिशाख्य ३।१४ में लिखा है कि माण्डूकेय संहिता में सभी प्रश्लिष्ट सन्धियों में एकादेश स्वरित होता है और वह प्रश्लिष्ट स्वरित कहाता है।

विशेष वक्तव्य—उदात्त और अनुदात्त स्वरों की प्रश्लिष्ट सन्धि दो प्रकार की होती है। एक वह, जिसमें पूर्ववर्ण अनुदात्त हो और उत्तरवर्ण उदात्त। ऐसी सभी प्रश्लिष्ट सन्धियों में दोनों स्वरों के स्थान में उदात्तरूप एकादेश होता है। यथा—

प्र + अस्य = प्रास्य (ऋ० १।१२१।१३)।
आ + अच्या = आच्या (ऋ० १०।१५।६)।

इस स्वर का विधान पाणिनि ने एकादेश उदात्तेनोदात्तः (८।२।५) सूत्र से किया है।

दूसरी प्रश्लिष्ट सन्धि वह है, जिसमें पूर्ववर्ण उदात्त हो, और उत्तरवर्ण अनुदात्त। इन दोनों स्वरों के स्थान पर जो एकादेश होता है, वह शाखा-भेद से कहीं उदात्त और कहीं स्वरित देखा जाता है। इसकी व्यवस्था शाकल, माध्य० काण्व, मैत्रायणी, तैत्तिरीय और माण्डूकेय शाखाओं के विषय में हम ऊपर, दर्शा चुके हैं।

---

१. मै० सं० में 'अभीन्द्राम्' विशिष्ट स्वरित-चिह्न प्रयुक्त होता है। देखो अध्याय १०।

यद्यपि पाणिनि ने इस उदात्तत्व और स्वरितत्व का विधान स्वरितो वाऽनुदात्ते पदादौ (अष्टा० ८।२।६) सूत्र द्वारा सामान्यरूप से किया है, तथापि वैदिक ग्रंथों में यह एकादेश स्वर शाखा भेद से व्यवस्थित है। इसलिए माध्यन्दिन और काण्व आदि संहिताओं में अभि + इन्धताम् = अभीन्धताम् आदि ई-रूप प्रश्लिष्ट सन्धि स्वरित होती है, तो तैत्तिरीय संहिता में (अभीन्धताम्) उदात्त देखी जाती है। इसी प्रकार जहाँ तैत्तिरीय संहिता में सु + उद्गाता = सूद्गाता आदि में ऊ-रूप प्रश्लिष्ट सन्धि स्वरित दिखाई पड़ती है, वहां माध्यन्दिन कण्व आदि संहिताओं में ऊ-रूप प्रश्लिष्ट सन्धि उदात्त मिलती है।

यह प्रश्लिष्ट स्वरित की शाखा-भेद से व्यवस्था तीन चार संहिताओं से उदाहरणरूप में दर्शाई है। इसी प्रकार अन्य संहिताओं और ब्राह्मण ग्रन्थों में यथाप्रयोग जान लेनी चाहिए।

६ तैरोव्यञ्जन—एक पद में (अथवा अनेक पदों में) उदात्तस्वर से परे व्यञ्जन से व्यवहित जो स्वरित देखा जाता है, उसे तैरोव्यञ्जन-स्वरित कहते हैं। यथा—

इडे, रन्ते, हव्ये काम्ये, (माध्य० पदपाठ ८।४३)।

देवो वः (माध्य० सं० १।१)।

पाणिनि के लक्षणानुसार यहाँ उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः (८।४।६५) से स्वरित होता है। यह संहितज स्वरित का ही भेद है।

तैरोव्यञ्जन नाम का कारण—पाणिनि तथा अन्य सभी स्वराचार्यों ने उदात्त से अव्यवहित अनुदात्त को स्वरितत्व का विधान किया है (अष्टा० ८।४।६५ + १।१।६७), परन्तु इडे पद में उदात्त इकार से अव्यवहित परे अनुदात्त एकार नहीं है। मध्य में 'ड्' व्यञ्जन का व्यवधान है। इसी प्रकार रन्ते में, 'न् त्', हव्ये में 'व् य्' और काम्ये में 'म् य्' दो दो व्यञ्जनों का व्यवधान है। इसलिए उक्त स्वरितत्व की प्राप्ति सम्भव नहीं। अतः वैयाकरणों ने इस दोष की निवृत्ति के लिए एक परिभाषा स्वीकार की है—स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवद् भवति अर्थात् स्वरविधि में व्यञ्जन को अविद्यमानवत् समझा जाता है, उसका व्यवधान नहीं माना जाता। इसलिए ऐसे स्वरितों में व्यञ्जन को तिरोहित समझने के कारण प्रातिशाख्यों मे इसका नाम तैरोव्यञ्जन स्वरित[1] रखा है। वैदिकाभरण व्याख्याकार ने तैरोव्यञ्जन का अर्थ 'व्यञ्जनव्यवहित' किया है।

---

१. माहिषेय तथा त्रिरत्नभाष्य में तैरोव्यञ्जन (तै० प्रा० २०।७ वा ८) स्वरित के उदाहरणों में प्रउगम (तै० स० ४।४।२) उदाहरण भी दिया है।

७-वैवृत्त अथवा पादवृत्त—संहिता में जहाँ पदान्त और पदादि दो स्वरों (अचों) में सन्धि नहीं होती उसे विवृत्ति कहते हैं।[1] ऐसे स्थानों में पदान्त उदात्त स्वर से परे जहाँ पदादि अनुदात्त को स्वरित होता है, उसे विवृत्ति (=सन्ध्यभाव) में होने से वैवृत्त स्वरित कहते हैं। ऋक् प्रातिशाख्य २।२६ में पदान्त पदादि के सन्ध्यभाव की पद्वृत्ति संज्ञा की है। इसलिए पदवृत्ति नामक सन्ध्यभाव में होने वाला स्वरित पादवृत्त कहा जाता है। वैवृत्त अथवा पादवृत्त स्वरित के उदाहरण—

मध्ये सत्यानृते अव पश्यन् (ऋ० ७।४९।३)।

ध्रुवा असदन्नृतस्य (माध्य० सं० २।६)।

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के माहिषेय (२०।७) तथा त्रिरत्न भाष्य (२०।६) में स्वतन्त्र दो पदों में पदान्त उदात्त से परे पदादि अनुदात्त के स्थान पर होने वाले स्वरित को ही पादवृत्त माना है। यथा—ता अस्मात् सृष्टा. (तै० स० २।१।२)। पादविवृत्त्यां पादवृत्त. (२०।६ वा ७)[2] सूत्र में पद ग्रहण का प्रत्युदाहरण प्रउगमुक्थम् (तै० स० ४।४।२) दिया है। अर्थात् माहिषेय और त्रिरत्नभाष्य के मत में जहाँ दो भिन्न पदों में सन्ध्यभाव हो, वहाँ उदात्त से परे होने वाले स्वरित की पादवृत्त संज्ञा होती है। प्रउग एक पद है।[3] अतः

इसमें किसी व्यञ्जन का व्यवधान नहीं है। अतः यह चिन्त्य है। वैदिकाभरण व्याख्या में 'व्यञ्जनव्यवहितः किम्—'प्रउगम्', युक्त व्याख्या की है।

१ तै० प्रा० के त्रिरत्नभाष्य में 'विवृत्ति' पद का अर्थ 'व्यक्ति' (अभिव्यक्ति) किया है (२०।६)।

२. तै० प्रा० के इस अध्याय में माहिषेय भाष्य में एक सूत्र अधिक है। अतः इस अध्याय के सूत्रों के उद्धरणों में परस्पर एक संख्या का अन्तर हो जाता है।

३. वस्तुतः 'प्रउग' समस्त पद है। यहाँ प्रस्-उग दो पदों का समास हुआ है। सन्धि में सकार का लोप होने से 'स आगच्छति' के समान पुनः सन्धि नहीं होती। पाश्चात्य विद्वान् और उनके अनुयायी प्रउग में दो स्वरों की समीपता देखकर इसे प्राकृत मानते हैं। यह उनका मिथ्याज्ञान है। प्रउग में प्रयुक्त सान्त 'प्रस्' शब्द 'प्रस्कण्व' शब्द में उपलब्ध होता है। पाणिनि ने अपनी प्रक्रिया के अनुसार लोकप्रसिद्ध 'प्र' शब्द से परे सकार का आगम (अ० ६।१।१५३) करके क्वचिदुपलब्ध अत एव अप्रसिद्ध 'प्रस्' शब्द की विद्यमानता दर्शाई

इस एक पद में सन्ध्यभाव होने पर भी उदात्त से परे विद्यमान स्वरित की पादवृत्त संज्ञा नहीं होती ।[1]

वैदिकाभरण संज्ञक (तै० प्रा०) भाष्य में एक पद में ही जहां सन्ध्यभाव हो, वहीं पर उदात्त से परे विद्यमान स्वरित की पादवृत्त संज्ञा कही है । यथा प्रउ॑ग । ता अ॑स्मात् यहां दो पद होने से पादवृत्त संज्ञा नहीं होती ।

मतभेद का कारण—तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के भाष्यकारों में मतभेद का कारण पदविवृत्त्यां पादवृत्तः (तै० प्रा० २०।६ वा ७) सूत्र के पदविवृत्त्यां पद की व्याख्या-भेद है । माहिषेय तथा त्रिरत्न भाष्य के कर्त्ता 'पदविवृत्या' में पदयोर्विवृत्याम् ऐसा द्विवचन से विग्रह करते हैं । अर्थात् जहां दो पदों में विवृत्ति सन्ध्यभाव अथवा दो पदों की पृथक् अभिव्यक्ति हो ऐसा अभिप्राय स्वीकार करते हैं । वैदिकाभरण का कर्त्ता पदविवृत्यां में 'पदे विवृत्याम्' ऐसा एकवचन से विग्रह मानता है । इसलिए उसके मत में प्रउ॑ग में पादवृत्त संज्ञा होती है, ता अ॑स्मात् में नहीं ।

मतभेद का प्रभाव—तैत्तिरीय प्रातिशाख्य (२०।१२ वा १३) में पादवृत्त स्वरित का अल्पतर प्रयत्न बताया है । अतः पादवृत्त संज्ञा में विद्यमान मतभेद का प्रभाव उनके उच्चारण पर पड़ता है । माहिषेय और त्रिरत्न भाष्य के अनुसार ता अ॑स्मात् में स्वरित का उच्चारण अल्पतर प्रयत्न से होगा, प्रउ॑गम् का नहीं । वैदिकाभरण के मत में प्रउ॑गम् स्वरित का अल्पतर प्रयत्न होगा, ता अ॑स्मात् का नहीं । तैत्तिरीय शाखा के अध्येता कहां पर कैसा उच्चारण करते हैं, यह हमें ज्ञात नहीं ।

हमारे विचार में माहिषेय तथा त्रिरत्न भाष्य का मत ठीक है, क्योंकि वह ऋग्वेद और शुक्लयजु' के प्रातिशाख्यों के अनुकूल है । तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के प्रवक्ता का क्या अभिप्राय है, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता ।

८—तैरोविराम—संहिता में एक पद का पदपाठ में जब अवान्तर पदविराम दर्शाया जाता है, तब उन अवान्तर पदविभागों के उच्चारण के मध्य में

है । पाणिनि अपने शास्त्र में आगम आदेश द्वारा उसके अपने काल में अप्रसिद्ध परन्तु पुराकाल में व्यवहृत मूल शब्दों का संकेत करता है । इसकी उपपत्ति के लिए देखिए 'छन्द: शास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ का 'छन्दः पद का निर्वचन और उसकी विवेचना' नामक द्वितीय अध्याय । यह अंश वेदवाणी (काशी) कार्तिक सं० २०१४ के अङ्क में भी प्रकाशित हो चुका है ।

१. देखो पिछले पृष्ठ की टि० सं० १ ।

एक मात्रा (अथवा अर्धमात्रा) काल का व्यवधान किया जाता है। इसे प्रातिशाख्यों में अवग्रह कहते हैं।[1] यथा—

गोपतावि॑ति गो प॑तौ । य॒ज्ञप॑ति॒रिति॑ य॒ज्ञ प॑तिः[2]

(माध्य० सं० पदपाठ) ।

अवग्रह में मात्रा (अथवा अर्धमात्रा) काल का व्यवधान विरामवत् स्वीकृत होने से अर्थात् परःसन्निकर्षरूप संहिता (अष्टा० १।४।११०) धर्म का व्याघात हो जाने से उदात्त से परे विद्यमान अनुदात्त को स्वरितत्व प्राप्त नहीं होता। अतः उस विराम (=संहिताभाव) को तिरोहित मान कर किए गए स्वरित को **तैरोविराम स्वरित** कहते हैं।

तैरोविराम स्वरित का उल्लेख केवल शुक्लयजुःप्रातिशाख्य (१।११८) में ही मिलता है।

तैत्तिरीय संहिता के पदपाठ में अवग्रह काल को विरामवत् व्यवधायक मान कर पूर्वभागस्थ उदात्त से परे उत्तरभागस्थ अनुदात्त को स्वरित नहीं होता। उसके अभाव में अगला अनुदात्त भी अनुदात्त ही रहता है। यथा—

गोप॑ता॒विति॒ गो प॒तौ । य॒ज्ञप॑ति॒रिति॑ य॒ज्ञ प॒तिः ।

ऋक्प्रातिशाख्य में यद्यपि तैरोविराम स्वरित का उल्लेख नहीं है, तथापि उसके पदपाठ में पूर्वभागस्थ अन्त उदात्त से परे उत्तर भागस्थ आदि अनुदात्त को माध्यन्दिन पदपाठ के समान स्वरित देखा जाता है यथा—

पूतऽद॑क्षम् (ऋ० १।२।७) । वि॒दत्ऽव॑सुम् (ऋ० १।६।६) ।

९—प्रातिहित—दो स्वतन्त्र पदों में पूर्वपदस्थ अन्त उदात्त से परे उत्तर-पदस्थ आदि अनुदात्त को संहिता-पाठ में जो स्वरित होता है, उसे तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के मतानुसार **प्रातिहित स्वरित** कहते हैं। यथा—

---

१. समासेऽवग्रहो ह्रस्वसमकालः। वाज० प्राति० ५।१॥ कैयट ने 'हलोऽनन्तराः संयोगः' (अष्टा० १।१।७) के भाष्यप्रदीप में अवग्रह का अर्धमात्रा काल लिखा है। दोनों मतों के सामञ्जस्य के लिए इसी सूत्र का नागेश का उद्योत ग्रन्थ देखना चाहिए।

२. माध्यन्दिन पद-पाठ के लेखन की दो प्रकार की शैली है। इसलिए किन्हीं ग्रन्थों में विगृह्यमाण पदों के दोनों अवयवों के मध्यवर्ती अवग्रह को दर्शाने के लिए ऽ संकेत किया जाता है। यथा—"गोऽपतौ"। और किसी में केवल स्थान रिक्त छोड़ा जाता है। जैसा हमने ऊपर लिखा है।

इषे + त्वा + ऊर्जे + त्वा = इषे त्वोर्जे त्वा (तै० सं० १।१।१)।

यह भेद अन्य प्रातिशाख्यों में उल्लिखित नहीं है। वस्तुतः यह संहितज स्वरित के ही अन्तर्गत है।

इन ९ प्रकार के स्वरितों में अर्थ की दृष्टि से केवल जात्य स्वरित ही महत्त्वपूर्ण है। स्वर-अङ्कन-प्रकार की दृष्टि से जात्य, अभिनिहित, क्षैप्र और प्रश्लिष्ट ये चार स्वरित मुख्य हैं।

अब अगले अध्याय में 'ससार की प्राचीन भाषाओं में स्वरों का सद्भाव और उनका लोप' विषय पर लिखा जाएगा।



चतुर्थ अध्याय

प्राचीन भाषाओं में स्वरों का सद्भाव

और

उनका लोप

उदात्तादि स्वरों की व्यापकता—हम पूर्व लिख चुके हैं कि उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वर अकारादि स्वरों (=अचों) के विशिष्ट उच्चारण-धर्म हैं।

शिक्षा और व्याकरण शास्त्र के अनुसार 'अ इ उ ऋ' इन चार स्वरों के ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत तीन तीन भेद होते हैं। प्रत्येक भेद का शुद्ध (निरनुनासिक) और सानुनासिक भेद से दो दो प्रकार का उच्चारण होने से (३×२=६) छः भेद बनते हैं। इनमें से प्रत्येक भेद का उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वर से उच्चारण होने पर पुनः तीन तीन भेद होकर (६×३=१८) अठारह अठारह भेद होते हैं।[1] कई आचार्यों के मत में 'ऌ' का दीर्घ-भेद नहीं होता। इसलिए उनके मत में ऌकार के बारह भेद होते हैं।[2] जो आचार्य ऌ का दीर्घ भेद भी मानते हैं, उनके मत में ऌ के भी पूर्ववत् अठारह भेद होते हैं।[3] ए ऐ ओ औ इन सन्ध्यक्षरों के ह्रस्व-भेद नहीं माने जाते।

---

१. अष्टादशप्रभेदमवर्णकुलमिति। अत्र—ह्रस्वदीर्घप्लुतत्वाच्च त्रैस्वर्योपनयेन च। आनुनासिक्यभेदाच्च सङ्ख्यातोऽष्टादशात्मक॥ इति। एवमिवर्णादय.। आपि० शिक्षा ६।१–२॥ अवर्णो ह्रस्वदीर्घप्लुतत्वाच्च त्रैस्वर्योपनयेन चानुनासिक्यभेदाच्च सङ्ख्यातोऽष्टादशात्मकः। एवमिवर्णादयः। पाणि० शिक्षा ६।१–२॥ अत्र चावर्णो ह्रस्वो दीर्घः प्लुत इति त्रिधा भिन्नः। प्रत्येकमुदात्तानुदात्तस्वरितभेदेन सानुनासिकनिरनुनासिकभेदेन चाष्टादशधा भवति। एवमिवर्णोवर्णावृवर्णश्च॥ चान्द्र-शिक्षासूत्र ३८–४०॥

२. ऌवर्णस्य दीर्घा न सन्ति। तं द्वादशप्रभेदमाचक्षते। आपि० शिक्षा ६।४, ५॥ पाणिनि-शिक्षा ६।३, ४॥ चान्द्र शिक्षा ४१॥

३. यदृच्छाशक्तिजानुकरणा वा यदा दीर्घा स्युस्तदा तमप्यष्टादशप्रभेदं ब्रुवते। आपि० शिक्षा ६।६॥ पाणि० शिक्षा ६।५॥

अतः इनमें प्रत्येक के बारह बारह भेद ही होते हैं।[१]

सन्ध्यक्षरों के ह्रस्व भेद—पाश्चात्य भाषामानियों का मत है कि प्राक्-भारोपीय-भाषा में 'ए ऐ ओ औ' स्वरों की ह्रस्व ध्वनियां भी थीं। उन्हें ग्रीक और लैटिन ने सुरक्षित रखा, परन्तु संस्कृत में उनके स्थान पर 'अ' रूप हो गया।[२]

पाश्चात्य मत की निस्सारता—पाश्चात्य भाषामानियों का ए ओ ध्वनि-विषयक जो मत संक्षेप से उद्धृत किया है। उसके दो अंश हैं—

क—ग्रीक और लैटिन भाषाओं ने प्राक्भारोपीय भाषा में वर्तमान ए ओ की ह्रस्व ध्वनियों का संरक्षण किया है।

ख—संस्कृत में ए ओ की ह्रस्व ध्वनियां नहीं हैं।

इनमें से प्रथम अंश की निस्सारता श्री पं० भगवद्दत्त जी ने अपने 'भाषा का इतिहास' नामक ग्रन्थ (द्वि० सं०) में पृष्ठ १५२–१६१ तक भले प्रकार दर्शाई है। उसे वहीं देखें। आपने अनेक उदाहरणों और सुदृढ़ प्रमाणों के द्वारा बताया है कि ग्रीक लोगों ने किसी प्राचीन भाषा में विद्यमान ए ओ की ह्रस्व ध्वनियों का संरक्षण नहीं किया, अपितु उनका स्वाभाविक उच्चारण ही ऐसा दूषित था, जिससे कण्ठ्य अ अर्ध ए ओ की ध्वनि के रूप में परिवर्तित हो जाता था। भारतीय बंगाली आज भी संस्कृत के कण्ठ्य अ को अर्ध ओष्ठ्य 'ओ' के रूप में उच्चारण करते हैं।

आदि भाषा में अर्ध (ह्रस्व) ए ओ—अब रहा द्वितीय अंश। शिक्षा-शास्त्र के प्राचीन ग्रन्थों के अवलोकन से हस्तामलक के समान है कि आदि भाषा (=अति भाषा) अर्थात् संस्कृत भाषा के प्राचीनतमरूप में न केवल ए ओ की ही, अपितु चारों सन्ध्यक्षरों की ह्रस्व (=अर्ध) ध्वनियां विद्यमान थीं। यथा—

१—वासिष्ठी शिक्षा[३] में लिखा है—

---

१. सन्ध्यक्षराणां ह्रस्वा न सन्ति। तान्यपि द्वादशप्रभेदानि। आपि० शिक्षा ६।७, ८॥ पाणि० ६।६, ७॥ चान्द्र शिक्षा ४२॥

२. उह्लनबेक, पृष्ठ ६३, ६४। बरो, पृष्ठ १०३। ब्लूमफील्ड, पृष्ठ ३०७। इस मत की समीक्षा के लिए देखिए श्री पं० भगवद्दत्त जी कृत 'भाषा का इतिहास' द्वि० संस्क० पृष्ठ १५२–१६४।

३ काशी से प्रकाशित शिक्षा-संग्रह में मुद्रित वासिष्ठी-शिक्षा से यह भिन्न ग्रन्थ है।

ऌवर्णं दीर्घं परिहाप्य स्वराः षड्विंशतिः प्रोक्ता. ।[1]

अर्थात्—ऌवर्ण के दीर्घ भेद को छोडकर २६ स्वर कहे गए हैं।

इस २६ संख्या की उपपत्ति इस प्रकार होती है—अ इ उ ऋ ए ऐ ओ औ इन ८ अक्षरों के ह्रस्व दीर्घ और प्लुत भेद से (८×३=२४) चौबीस भेद होते हैं। इन में ऌकार के दीर्घभेद को छोड़कर ह्रस्व और प्लुत दो भेदों को मिलाने से २६ संख्या उपपन्न होती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि वासिष्ठी शिक्षा के काल में संस्कृत भाषा में 'ए, ऐ, ओ, औ' इनके ह्रस्व उच्चारण विद्यमान थे।

२—वर्णोच्चारण-विद्या का असाधारण विद्वान् आचार्य आपिशलि अपनी शिक्षा में लिखता है—

छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया ह्रस्वानि पठन्ति।
तेषामप्यष्टादशप्रभेदानि।६।९,१०॥

अर्थात्—सामवेदियों में राणायनीय अन्तर्गत सात्यमुग्र शाखा के अध्येता सन्ध्यक्षरों के ह्रस्वभेद पढते हैं। उनके मत में सन्ध्यक्षरों के भी अठारह अठारह भेद होते हैं।

इस विवेचना से स्पष्ट है कि प्राचीनतम काल में संस्कृत भाषा में 'ए, ऐ, ओ, औ' के ह्रस्व (=अर्ध) उच्चारण विद्यमान थे। भाषा में सन्ध्यक्षरों के ह्रस्व उच्चारणों के विद्यमान होने पर अन्य वर्णों के समान उनके स्वतन्त्र लिपि संकेत भी अवश्य रहे होंगे।

उत्तरवर्ती भारतीय भाषाओं में सन्ध्यक्षरों की ह्रस्व ध्वनियाँ—उत्तर कालीन संस्कृत भाषा से सन्ध्यक्षरों की ह्रस्व ध्वनियों के नष्ट हो जाने पर भी आदिभाषा (=अतिभाषा=प्राचीनतम संस्कृत) से उत्तरोत्तर विकार को प्राप्त होकर उत्पन्न हुई प्राकृत भाषाओं में सन्ध्यक्षरों की ह्रस्व ध्वनियाँ विद्यमान रहीं।

तामिल और कन्नड मे ह्रस्व ए ओ—तामिल और कन्नड भाषाओं[2] और उनकी लिपियों में ह्रस्व ए ओ विद्यमान हैं।

शौरसेनी और अर्धमागधी मे ह्रस्व ए ओ—शौरसेनी और अर्धमागधी प्राकृत में ए ओ की ह्रस्व ध्वनियों का प्रयोग होता है।[3]

---

१ गार्ग्य गोपाक यज्वा द्वारा तै० प्राति० १।१ की व्याख्या में उद्धृत।

२. अनार्य कही जाने वाली तामिल आदि दाक्षिणात्य भाषाएँ भी वस्तुतः आदि भाषा (प्राचीन संस्कृत) का विकार है। स्वय तामिळ शब्द भी संस्कृत द्रामिळ का रूपान्तर है। देखो 'भाषा का इतिहास' संस्करण २ पृष्ठ २८१-२८३।

३. देखिए, भाषा का इतिहास, द्वि० संस्क० पृष्ठ १५९।

अतः इनमें प्रत्येक के बारह बारह भेद ही होते हैं ।[1]

सन्ध्यक्षरों के ह्रस्व भेद—पाश्चात्य भाषामानियों का मत है कि प्राक्-भारोपीय-भाषा में 'ए ऐ ओ औ' स्वरों की ह्रस्व ध्वनिया भी थीं। उन्हें ग्रीक और लैटिन ने सुरक्षित रखा, परन्तु सस्कृत में उनके स्थान पर 'अ' रूप हो गया ।[2]

पाश्चात्य मत की निस्सारता—पाश्चात्य भाषामानियों का ए ओ ध्वनि-विषयक जो मत सक्षेप से उद्धृत किया है। उसके दो अश हैं—

क—ग्रीक और लैटिन भाषाओं ने प्राक्भारोपीय भाषा में वर्तमान ए ओ की ह्रस्व ध्वनियों का सरक्षण किया है।

ख—सस्कृत में ए ओ की ह्रस्व ध्वनिया नहीं हैं।

इनमें से प्रथम अश की निस्सारता श्री पं० भगवद्दत्त जी ने अपने 'भाषा का इतिहास' नामक ग्रन्थ (द्वि० सं०) में पृष्ठ १५२–१६१ तक भले प्रकार दर्शाई है। उसे वहीं देखें। आपने अनेक उदाहरणों और सुदृढ प्रमाणों के द्वारा बताया है कि ग्रीक लोगों ने किसी प्राचीन भाषा में विद्यमान ए ओ की ह्रस्व ध्वनियों का संरक्षण नहीं किया, अपितु उनका स्वाभाविक उच्चारण ही ऐसा दूषित था, जिससे कण्ठ्य अ अर्ध ए ओ की ध्वनि के रूप में परिवर्तित हो जाता था। भारतीय बगाली आज भी संस्कृत के कण्ठ्य अ को अर्ध ओष्ठ्य 'ओ' के रूप में उच्चारण करते हैं।

आदि भाषा में अर्ध (ह्रस्व) ए ओ—अब रहा द्वितीय अश। शिक्षा-शास्त्र के प्राचीन ग्रन्थों के अवलोकन से हस्तामलक के समान है कि आदि भाषा (=अति भाषा) अर्थात् सस्कृत भाषा के प्राचीनतमरूप में न केवल ए ओ की ही, अपितु चारों सन्ध्यक्षरों की ह्रस्व (=अर्ध) ध्वनिया विद्यमान थीं। यथा—

१—वासिष्ठी शिक्षा[3] में लिखा है—

---

१ सन्ध्यक्षराणां ह्रस्वा न सन्ति। तान्यपि द्वादशप्रभेदानि। आपि० शिक्षा ६।७, ८ ॥ पाणि० ६।६, ७ ॥ चान्द्र शिक्षा ४२ ॥

२ उह्लनबेक, पृष्ठ ६३, ६४। बरो, पृष्ठ १०३। ब्लूमफील्ड, पृष्ठ ३०७। इस मत की समीक्षा के लिए देखिए श्री प० भगवद्दत्त जी कृत 'भाषा का इतिहास' द्वि० सस्क० पृष्ठ १५२–१६४।

३. काशी से प्रकाशित शिक्षा-सग्रह में मुद्रित वासिष्ठी-शिक्षा से यह भिन्न ग्रन्थ है।

संस्कृत के प्रभव-स्थान हैं ।[1] पाश्चात्य लेखकों के मतानुसार भी वेद संसार की समस्त भाषाओं में प्राचीनतम ग्रन्थ हैं । ये ससार के प्राचीनतम अमूल्य निधि वेद आज तक उदात्त आदि स्वरों से युक्त विद्यमान हैं । इतना ही नहीं, वेद से संबन्ध रखने वाले अनेक ग्रन्थों में आज भी उदात्त आदि स्वर सुरक्षित हैं । स्वर शास्त्र की दृष्टि से भी वेद संसार की अपूर्व शेवधि (= निधि) हैं ।

वैदिक ग्रन्थों में स्वर की अविकृति—वैदिक तपस्वी, कुम्भीधान्य ब्राह्मणों की सतत जागरूकता के कारण शाकल, माध्यन्दिन, काण्व और तैत्तिरीय संहिता के पाठ आज भी ठीक उसी रूप में प्राप्त हो रहे हैं, जिस रूप में इनके प्रवचन-कर्त्ता ऋषियों ने अपने शिष्यों के प्रति प्रवचन किया था । इन ग्रन्थों में एक भी वास्तविक पाठान्तर का उपलब्ध न होना इसका प्रबल प्रमाण है । इसलिए इन ग्रन्थों के स्वर भी अद्यावधि सर्वथा अविकृत हैं, यह निस्सन्दिग्ध हैं । वैदिक ग्रन्थों में स्वरों की पूर्ण अविकृतता पाश्चात्य लेखकों के लिए भी आश्चर्य का विषय है । उह्लन बैक इस विषय में लिखता है—

Verner's law has been an evident proof of the fact, that the Indian stress, as it is handed down to us in some Vedic books and by ancient Indian grammarians, generally fell on the same sylables as in the Indogermanic mother-language. (p.109.)[2]

अर्थात्—वर्नर नियम इस तथ्य का स्पष्ट प्रमाण है कि भारतीय ध्वनि बल (उदात्त स्वर) जैसा हमारे पास कुछ वैदिक ग्रन्थों और भारतीय वैयाकरणों द्वारा पहुँचा है, प्राय. उन्हीं अक्षरों पर पड़ता है, जैसा वह मूल मातृ-भाषा में था ।

वैदिक पदानुक्रम कोश में स्वर-परिवर्तन—श्री पं० विश्वबन्धु जी ने अपने वैदिक पदानुक्रम कोश में वैदिक ग्रन्थों में निर्दिष्ट अनेक स्वरों को प्रमाद पाठ मान कर परिवर्तित करके छापा है । इस परिवर्तन का निर्देश कतिपय स्थानों में टिप्पणी में कर दिया है, परन्तु अधिकाश स्थानों में टिप्पणी में

१. सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक् । वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् सस्थाश्च निर्ममे । मनु १।२१॥

२. श्री प० भगवद्दत्त जी कृत वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग १, सं० २, पृ० ६८ से उद्धृत ।

अवधी में ह्रस्व ए ऐ—गोस्वामी तुलसीदास की रामायण मुख्यतया अवधी भाषा में लिखी गई है। उसमें ह्रस्व ए ऐ का बहुधा प्रयोग होता है। यथा—

अवधेश के द्वारे सकारे, सुतगोद कै भूपति लै निकसे।

इनमें रेखाकित अक्षरों के ए ऐ का ह्रस्व (एक मात्रिक) उच्चारण होता है।

व्रजभाषा में—व्रजभाषा में भी ए ऐ का ह्रस्व उच्चारण होता है।

हिन्दी में—राष्ट्रभाषा हिन्दी में भी किन्हीं किन्हीं स्थानों में ए ऐ का ह्रस्व उच्चारण देखा जाता है। यथा—**मैं, है**। इनमें ऐकार का सस्कृत जैसा दीर्घ उच्चारण नहीं होता।

ह्रस्व ए ऐ ओ औ के लिपि संकेत का नाश—निश्चय ही जिस काल में सस्कृत भाषा में सन्ध्यक्षरों की ह्रस्वध्वनियाँ विद्यमान थीं, उस समय उनके पृथक् लिपि सकेत भी रहे होंगे। उत्तरकाल में सस्कृत भाषा से सन्ध्यक्षरों की ह्रस्व ध्वनियों के नष्ट हो जाने पर उनके स्वतन्त्र लिपि संकेत भी नष्ट हो गए। जिन भारतीय भाषाओं में सन्ध्यक्षरों के ह्रस्व उच्चारण सुरक्षित हैं, उनमें से जिन भाषाओं की लिपि का मूल उत्तरकालीन सस्कृत लिपि है, उन भाषाओं में ह्रस्व उच्चारणों के विद्यमान रहने पर भी उनके लिए लिपि सकेत उपलब्ध नहीं होते। उनमें दीर्घ सन्ध्यक्षरों की लिपि सकेत से ही काम चलाना पडता है।[1] इससे स्पष्ट है कि तामिल आदि लिपियों का मूल अतिप्राचीन सस्कृत लिपि है।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरों का अकारादि प्रत्येक स्वर (= अच्) के साथ सबन्ध है। इसलिए उदात्तादि स्वरों का प्रत्येक शब्द के साथ अविभाज्य सबन्ध होने से इनका क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है।

प्राचीन भाषाओं में उदात्तादि स्वर

संसार की अनेक प्राचीन भाषाओं में उदात्त आदि स्वरों की विद्यमानता के प्रमाण उपलब्ध होते हैं। यथा—

१–वैदिक वाक् में—भारतीय ऐतिहासिक मतानुसार वेद सम्पूर्ण वाङ्मय के आदि ग्रन्थ हैं। वे सम्पूर्ण भाषाओं की जननी प्राचीनतम आदि भाषा

---

१. प्राचीन सस्कृत में अन्य भी कई स्वतन्त्र ध्वनियाँ थीं। देखिए, 'भाषा का इतिहास', द्वि० स० पृष्ठ १०८–११२॥

संस्कृत के प्रभव-स्थान हैं।[1] पाश्चात्य लेखकों के मतानुसार भी वेद संसार की समस्त भाषाओं में प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। ये ससार के प्राचीनतम अमूल्य निधि वेद आज तक उदात्त आदि स्वरों से युक्त विद्यमान हैं। इतना ही नहीं, वेद से संबन्ध रखने वाले अनेक ग्रन्थों में आज भी उदात्त आदि स्वर सुरक्षित हैं। स्वर शास्त्र की दृष्टि से भी वेद ससार की अपूर्व शेवधि (=निधि) हैं।

वैदिक ग्रन्थों मे स्वर की अविकृति—वैदिक तपस्वी, कुम्भीधान्य ब्राह्मणों की सतत जागरूकता के कारण शाकल, माध्यन्दिन, काण्व और तैत्तिरीय संहिता के पाठ आज भी ठीक उसी रूप में प्राप्त हो रहे हैं, जिस रूप में इनके प्रवचन-कर्त्ता ऋषियों ने अपने शिष्यों के प्रति प्रवचन किया था। इन ग्रन्थों में एक भी वास्तविक पाठान्तर का उपलब्ध न होना इसका प्रबल प्रमाण है। इसलिए इन ग्रन्थों के स्वर भी अद्यावधि सर्वथा अविकृत हैं, यह निस्सन्दिग्ध हैं। वैदिक ग्रन्थों में स्वरों की पूर्ण अविकृतता पाश्चात्य लेखकों के लिए भी आश्चर्य का विषय है। उह्लन बेक इस विषय में लिखता है—

Verner's law has been an evident proof of the fact, that the Indian stress, as it is handed down to us in some Vedic books and by ancient Indian grammarians, generally fell on the same sylables as in the Indogermanic mother-language. (p.109.)[2]

अर्थात्—वर्नर नियम इस तथ्य का स्पष्ट प्रमाण है कि भारतीय ध्वनि बल (उदात्त स्वर) जैसा हमारे पास कुछ वैदिक ग्रन्थों और भारतीय वैयाकरणों द्वारा पहुँचा है, प्राय उन्हीं अक्षरों पर पड़ता है, जैसा वह मूल मातृ-भाषा में था।

वैदिक पदानुक्रम कोश में स्वर-परिवर्तन—श्री पं० विश्वबन्धु जी ने अपने वैदिक पदानुक्रम कोश में वैदिक ग्रन्थों में निर्दिष्ट अनेक स्वरों को प्रमाद पाठ मान कर परिवर्तित करके छापा है। इस परिवर्तन का निर्देश कतिपय स्थानों में टिप्पणी में कर दिया है, परन्तु अधिकाश स्थानों में टिप्पणी में

---

१. सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक्। वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् सस्थाश्च निर्ममे। मनु १।२१॥

२. श्री पं० भगवद्दत्त जी कृत वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग १, सं० २, पृ० ६८ से उद्धृत।

कोई निर्देश नहीं किया। तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।४।१६।१ में प्रयुक्त पूर्वपद मध्योदात्त चरकाचार्य पद के स्वर के विषय में टिप्पणी में लिखा है—

'रका'[1] इति मुधा स्वरोऽशुद्ध' । ब्राह्मणपद कोष भाग १, पृष्ठ ४१२ ।

अर्थात् तैत्तिरीय ब्राह्मण के पाठ में 'चरकाचार्य' पद पूर्वपद मध्योदात्त छपा है, उसमें स्वर अशुद्ध है ।

यह टिप्पणी उस ग्रन्थ के पाठ पर दी है, जिसमें पाठान्तर उपलब्ध नहीं होते। माननीय पण्डित जी ने जिस ढग से टिप्पणी दी है उसके अनुसार प्रतीत होता है कि मुद्रित ग्रन्थ का पाठ अशुद्ध है। हस्तलिखित ग्रन्थों में अथवा तैत्तिरीय शाखाध्यायी ब्राह्मणों में पूर्वपदाद्युदात्तत्व ही देखा जाता है। परन्तु ऐसा है नहीं, अतः टिप्पणी का लेखन प्रकार भी भ्रामक है ।

भूल का कारण—इस प्रकार की भूलों का प्रधान कारण होता है पाणिनीय अष्टाध्यायी के नियमों को निरपवाद समझना। श्री पं० विश्वबन्धु जी ने पाणिनि के लिति (अष्टा० ६।१।१९३) सूत्र को निरपवाद समझकर ही यह भूल की है।[2] लक्षणैकचक्षु वैयाकरण प्रायः ऐसी भूलें करते रहते हैं। आधुनिक वैयाकरणों में परमप्रामाणिक महामहोपाध्याय नागेश ने भी ऐसी अनेक भूलें की हैं।[3] वस्तुतः वेद में यथादृष्ट स्वर की उपपत्ति की जाती है और उसके अनुसार ही अर्थ किया जाता है। यह वैयाकरणों का राद्धान्त है। वैदिक पाठों में लक्षण-शास्त्रों के अनुसार शुद्धाशुद्धत्व की कल्पना नहीं की जाती।[4] अन्यथा महान् विप्लव हो जाएगा।

२—लौकिक संस्कृत में—भारतीय परम्परानुसार लोक में भाषा की

---

१. ब्राह्मण कोश में उदात्तस्वर का अधोरेखा से निर्देश किया है ।

२. इसी प्रकार का दूसरा पद है—मेध्याय। पाणिनीय व्याकरणानुसार यत् प्रत्ययान्त (अष्टा० ४।४।११०) होने से 'यतोऽनावः' (अ० ६।१।२१३) से आद्युदात्त होना चाहिए (माध्य० १६।३८, काण्व १८।३८, मैत्रा० २।९।७ में ऐसा ही है), परन्तु तै० सं० ४।५।७ तथा काठक स० १७।१५ में अन्त स्वरित उपलब्ध होता है। चरकाचार्य और मेध्य पद के स्वर पर विशेष विचार हमारे 'दुष्कृताय चरकाचार्यम्' निबन्ध (पृष्ठ १६–१९) में किया है।

३ सूत्रविरोधात् स पाठ प्रामादिकः ६।१।२१० सूत्र का शब्देन्दुशेखर, भाग २, पृष्ठ ९५८ । तथा ६।१।३३ का प्रदीपोद्द्योत ।

४. ऋग्वेद-कल्पद्रुम के रचयिता ने ऋक्प्रातिशाख्य के अनुसार शाकल संहिता में अनेक पाठ-प्रमाद दर्शाए हैं ।

प्रवृत्ति वेद शब्दों के आधार पर हुई।[1] अतः वैदिक शब्दों के स्वर लौकिक भाषा में स्वभावतः आ गए। इसलिए प्राचीन काल में लौकिक संस्कृत भाषा में भी उदात्तादि स्वरों का यथावत् उच्चारण होता था। यह उच्चारण संस्कृत भाषा में कब तक रहा, इसके विषय में आगे अनुपद ही विचार किया जाएगा। प्राचीन काल में संस्कृत भाषा में उदात्तादि स्वरों का केवल व्यवहार-काल में ही उच्चारण नहीं होता था, अपि तु उस काल में लौकिक संस्कृत में लिखे गए ग्रन्थों में भी वैदिक ग्रन्थों के समान उदात्त आदि स्वरों का निर्देश होता था। इसमें कतिपय प्रमाण इस प्रकार हैं—

क—पाणिनि ने वैदिक शब्दों के समान लौकिक शब्दों के स्वरों का भी अनुशासन अपने ग्रन्थों में किया है। जहाँ वैदिक और लौकिक स्वर में भिन्नता थी, वहाँ स्पष्ट रूप से लौकिक शब्दों के स्वरभेद का प्रतिपादन किया है। यथा—

I विभाषा भाषायाम्। अष्टा० ६।१।१८१॥

अर्थात्—भाषा में झलादि विभक्त्यन्त षट् संज्ञक (षष् पञ्चन् सप्तन् आदि) त्रि और चतुर् शब्द में अन्त से पूर्व अच् को विकल्प से उदात्त होता है। पक्ष में विभक्ति को उदात्त होता है। यथा—पुञ्चभिः, पञ्चभिः।

II इसी प्रकार विपाट् (व्यास नदी के उत्तर और दक्षिण भाग में निर्मित कूपों के लिए लोक में आद्युदात्त और अन्तोदात्त स्वरभेद से दात्त गौप्त आदि शब्दों का व्यवहार होता था। इसलिए पाणिनि ने इन शब्दों में विद्यमान सूक्ष्म स्वरभेद को दर्शाने के लिए अञ् और अण् दो प्रत्ययों की कल्पना की। गुप्त और दत्त द्वारा निर्मित उत्तर भाग के कूपों के लिए आद्युदात्त गौप्त, दात्त शब्दों का प्रयोग होता था और दक्षिण भाग में वर्तमान कूपों के लिए अन्तोदात्त गौप्त दात्त शब्दों का।[2] निश्चय ही पाणिनि ने लोक में प्रयुक्त स्वरों की रक्षा में महती सूक्ष्मेक्षिका का परिचय दिया है।[3]

ख—प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों के देखने से यह स्पष्ट विदित होता है कि अति पुराकाल में मनुस्मृति, निरुक्त आदि ग्रन्थों में भी स्वर चिह्न लगे हुए थे। यथा—

I. निरुक्त ३।१ में स्वायम्भुव मनु का अविशेषेण पुत्राणां श्लोक उद्धृत है। उस पर आज भी स्वर चिह्न उपलब्ध हैं। यतः यह श्लोक अङ्गादङ्गात्

---

१. मनु० १।२१॥

२. द्रष्टव्य—'उदक् च विपाशः'। अष्टा० ४।२।७३॥

३. महती सूक्ष्मेक्षिका वर्तते सूत्रकारस्य। काशिका ४।२।७३॥

मन्त्र के साथ निर्दिष्ट है, अत: मन्त्र-साहचर्य्य के कारण कथचित् इस श्लोक के स्वर चिह्नों की रक्षा हो गई।

II. निरुक्त १४।६ में मृतश्राद्ध आदि तीन श्लोक उद्धृत हैं। इन पर भी स्वर चिह्न अद्यावधि सुरक्षित हैं। इनमें से आहारा विविधा भुक्ताः श्लोक महाभारत अश्वमेध पर्व १६।३२ में भी उपलब्ध होता है।

III. निरुक्त के कतिपय लिखित पत्र हमारे पास हैं।[1] उनमें मन्त्रोद्धरण के पश्चात् प्रयुक्त होने वाले 'इत्यपि निगमो भवति' अंश पर भी स्वर चिह्न लगे हुए हैं। वैजनाथ काशीनाथ राजवाडे द्वारा सम्पादित निरुक्त में[2] भी कहीं कहीं मन्त्रातिरिक्त अंश पर भी स्वरचिह्न उपलब्ध होते हैं। डा० लक्ष्मण स्वरूप सम्पादित निरुक्त पृष्ठ ३१ की १० वीं टिप्पणी से भी स्पष्ट है कि अनेक हस्तलेखों में मन्त्रोद्धरणानन्तरप्रयुक्त 'इति' पद पर स्वर चिह्न उपलब्ध होता है।

ग—श्लोकबद्ध पाणिनीय शिक्षा पर भी स्वर चिह्न उपलब्ध होते हैं।[3] यद्यपि ये स्वर चिह्न सस्वर पाठ के प्रायः लुप्त हो जाने से अत्यन्त विकृत हो गए हैं। तथापि इनमें यह स्पष्ट है कि पुराकाल में श्लोकबद्ध पाणिनीय शिक्षा सस्वर थी। पाणिनीय शिक्षा का यह सस्वर पाठ काशी से प्रकाशित शिक्षा-संग्रह में मिलता है।

घ—गुरुपरम्परा से अधीत महाराष्ट्र ऋग्वेदी ब्राह्मण आज भी शिक्षा आदि षडङ्गों का सस्वरग्रन्थवत् विशिष्ट पद्धति से पाठ करते हैं। इससे अनुमान होता है कि पुरा काल में इन षडङ्गों पर भी स्वर चिह्न रहे होंगे।

---

१. हमें सं० १९९० में काशी में गंगा-प्रवाह में बहते हुए कतिपय पुस्तकों के पत्रे मिले थे। उन्हीं में निरुक्त के ये पत्रे भी थे। इन्हें उक्त स्वर निर्देश के कारण अत्यन्त उपयोगी समझ कर सुरक्षित रख लिया।

२. इस निरुक्त की भूमिका में राजवाडे ने तथा 'इटोमॉलोजी आफ यास्क' में श्री सिद्धेश्वर वर्मा ने यास्कीय निर्वचनों के विषय में बिना समझे जो महान् उपहास किया है उसका संक्षिप्त उत्तर हमने 'छन्द शास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ के 'छन्द पद का निर्वचन और उसकी विवेचना' नामक द्वितीय अध्याय में दिया है। यह अंश वेदवाणी (काशी) के कार्तिक सं० २०१४ के वेदाङ्क में भी छप चुका है।

३. डा० मनोमोहन घोष ने सन् १९३८ में श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा का एक संस्करण प्रकाशित किया है, उसमें इस शिक्षा के कई पाठ छपवाए हैं। उनमें चिरकाल मुद्रित सस्वरपाठ की क्यों उपेक्षा की, यह हमारी समझ में नहीं आता।

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि पुराकाल में मौलिक भाषा निबद्ध मनुस्मृति, निरुक्त और पाणिनीय शिक्षा आदि ग्रन्थ भी स्वर निबद्ध थे। उत्तरकाल में स्वरोच्चारण के शिथिल हो जाने पर जिस प्रकार ताण्ड्य आदि ब्राह्मण ग्रन्थों से स्वरों का लोप हुआ[१], उसी प्रकार इन ग्रन्थों से भी स्वर चिह्न नष्ट हो गए।

३–ग्रीक भाषा में—मैकडानल प्रभृति पाश्चात्य लेखकों का मत है कि प्राचीन ग्रीक भाषा में भी संस्कृत के समान ही उदात्त आदि स्वरों का प्रयोग होता था।[२]

४–अरबी में—अरबी भाषा में उदात्त आदि स्वर थे अथवा नहीं, इसका साक्षात् विनिगमक प्रमाण उपलब्ध नहीं। पुनरपि निम्न हेतुओं से उस भाषा में प्राचीन काल में स्वर सद्भाव की आशंका होती है—

क—उदात्त आदि स्वरों का अर्थ के साथ साक्षात् संबन्ध है, यह हम अगले अध्याय में दर्शाएँगे। पदों के स्थान परिवर्तन से स्वरों में परिवर्तन प्रायः हो जाता है और उसका अर्थ पर प्रभाव पडता है। इसलिए प्राचीन आचार्य मन्त्र की व्याख्या करते हुए मन्त्र-पद-क्रम के अनुसार ही उसकी व्याख्या करते हैं, जिससे स्वरों के अनुरूप यथार्थ अर्थ प्रकाशित हों। निरुक्त तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में इसी शैली से व्याख्यान उपलब्ध होता है (मन्त्रार्थ में अन्वय का उपयोग सर्वथा आधुनिक है)।

इसी प्रकार कुरान के जितने प्राचीन प्रामाणिक अनुवाद उपलब्ध हैं। उनमें आयतों में पठित पद-क्रम के अनुसार ही अनुवाद उपलब्ध होता है, अन्वित वाक्य रचना के रूप में नहीं। सस्वर वेद के निरुक्त आदि व्याख्यान ग्रन्थों में विद्यमान मन्त्र-पद-क्रमानुसारी व्याख्या के साथ कुरान के अनुवाद की तुलना करने से कुछ सम्भावना होती है कि कहीं प्राचीन अरबी में भी उदात्त आदि स्वर रहे हों और उनसे प्रभावित होकर कुरान के अनुवाद की रीति भी आयात-पद क्रम के अनुसार स्वीकृत की गई हो।

ख—प्रायः देखा जाता है कि कुरान का पाठ प्राय. शरीर को आगे पीछे हिलाते हुए करते हैं। इस शरीर चालन क्रिया की ऋग्वेदी अध्येताओं के शिरः-कम्प से तुलना की जाए तो सम्भावना होती है कि इस शरीर चालन के मूल में स्वर आदि कोई विशेष कारण है।

---

१. इसके विषय में आगे लिखा जाएगा।

२. वैदिक साहित्य-चरित्रम् (मैकडानल कृत हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर का संक्षिप्त अनुवाद) पृष्ठ ६०, ६१।

ग—अरबी भाषा में एकवचन, द्विवचन, बहुवचन आदि अनेक विषयों में संस्कृत भाषा से समानता उपलब्ध होती है।[1] उस समानता से यह भी अनुमान किया जा सकता है कि कभी अरबी में भी संस्कृत के समान उदात्त आदि स्वरों का प्रचलन रहा होगा।

पुरातत्त्व विशारदों को इस विषय में विशेष अनुसन्धान करना चाहिए। इसी विचार से हमने उपर्युक्त संकेत किया है।

ग्रीक आदि भाषाओं में स्वर-सद्भाव का कारण

ग्रीक आदि भाषाएँ वैदिक-वाक्-प्रसूता अतिप्राचीन काल की आदि भाषा अथवा अतिभाषा[2] की परम्परा से विकार हैं।[3] अतः प्राचीन अति भाषा में प्रयुक्त उदात्त आदि स्वर उससे परम्परा से विकृत ग्रीक आदि प्राचीन भाषाओं मे भी प्रयुक्त होते रहे, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं।

स्वरों का लोप

उदात्त आदि स्वरों का लोप न केवल ग्रीक, जर्मन आदि भाषाओं में ही हुआ है, अपितु लौकिक संस्कृत से भी स्वरों का सर्वथा लोप हो गया। इतना ही नहीं, अनेक वैदिक ग्रन्थ जो पहले सस्वर थे, वे भी स्वर चिह्नों से रहित हो गए।[4]

---

१. पाश्चात्य भाषाविचारकों ने अरबी को सेमेटिक वर्ग में माना है। सेमेटिक वर्ग का इण्डोयोरोपीय भाषा वर्ग से कोई संबन्ध नहीं माना जाता। परन्तु अब अनेक लेखकों का मत है कि सेमेटिक परिवार की भाषाओं और इण्डो-योरोपीय वर्ग की भाषाओं का मूल एक है। (द्र० भाषा का इतिहास, संस्क० २, पृष्ठ २१९—२२२) निश्चय ही यह सत्य है। और वह मूल भाषा संस्कृत का प्राचीतम रूप अतिभाषा है।

२. नाट्यशास्त्र १७।२८ तथा उसके पाठान्तर। अतिभाषा—वैदिक-शब्द-बहुला। अभिनवगुप्त की टीका।

३ इस तथ्य के ज्ञान के लिए 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' भाग १, संस्क० २, पृष्ठ ६९-९४ 'संसार की आदि भाषा संस्कृत' अध्याय तथा 'भाषा का इतिहास' संस्क०२ पृष्ठ २१५—२२४ तक।

४ शतपथवत् ताण्डिभाल्लविनां स्वरः। भाषिक सूत्र ३।१५॥ इसी प्रकार नारदी शिक्षा (शिक्षा संग्रह, पृष्ठ ३९८) में भी लिखा है। सम्प्रति ताण्ड्य ब्राह्मण पर स्वर-चिह्न नहीं मिलते।

स्वरों का क्रमिक लोप—हम पूर्व लिख चुके हैं कि उदात्त आदि स्वरों की संख्या कोई सात मानता है, तो कोई ५, कोई ४, कोई दो और कोई एक। इन संख्याओं में उदात्तादि स्वरों के क्रमिक ह्रास का इतिहास छिपा हुआ है। आदि काल में जब मनुष्य परम विद्वान्, कन्दमूल फलभक्षी और परम सात्त्विक थे[1], उस समय उनकी वाग्-इन्द्रिय सर्वथा विकाररहित थी। उनके स्वर-यन्त्र सूक्ष्मतम स्वर-भेदों के उच्चारण में पूर्ण समर्थ थे। उत्तरकाल में क्रमशः सत्त्वगुण के ह्रास, और रजस् तथा तमस् गुणों की वृद्धि के कारण ज्यों-ज्यों मेधा का ह्रास, आलस्य, प्रमाद, और दर्प आदि दुर्गुणों का प्रादुर्भाव हुआ[1] तथा मद्य, मांस और अति तीक्ष्ण व्यञ्जनयुक्त आहार में प्रवृत्ति हुई, त्यों-त्यों सूक्ष्मतम स्वर-भेदों के उच्चारण में अनवधानता और स्वर-यन्त्रों में विकार के कारण उच्चारण-शक्ति के शैथिल्य से सूक्ष्म स्वर-भेदों का लोप होना आरम्भ हुआ। स्वरों के उच्चारण सीमित होते गए। अन्त में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित इन तीन प्रधान स्वरों का भी लोप होकर एकतान अथवा एकश्रुति स्वर ही अवशिष्ट रह गया।

स्वरलोप का आरम्भ—उच्चारण में उदात्त आदि स्वरों के सूक्ष्मभेद के लोप का आरम्भ कब से हुआ, यह निश्चित रूप से कहना अशक्य है। परन्तु प्राचीन ग्रन्थों के अवलोकन के आधार पर इतना कहा जा सकता है कि वर्तमान वैदिक शाखाओं, श्रौतसूत्रों और प्रातिशाख्यों के प्रवचन-काल से बहुत पूर्व से उदात्तादि स्वरों के उच्चारण में शैथिल्य आ चुका था। इसमें निम्न प्रमाण हैं—

१—उपलब्ध शाखाओं के पाठों की तुलना करने से प्रकट होता है कि उनके प्रवचन-काल में उदात्तादि स्वरों के उच्चारण का भेद शिथिल हो चुका था। अतएव उनमें स्वर-भेद से प्रकट हो सकने वाले अर्थ को सुस्पष्ट करने के लिए भी पाठान्तर किए गए। यथा—

माध्यन्दिनी संहिता १।१७ में पाठ है—भ्रातृव्यस्य वधाय।

भ्रातृव्य शब्द के दो अर्थ हैं। एक भाई का पुत्र (भतीजा) और दूसरा शत्रु। स्वर-शास्त्र के अनुसार आद्युदात्त भ्रातृव्य शब्द शत्रु का वाचक है और

---

१. पुरा खलु अपरिमितशक्तिप्रभावप्रभाववीर्य ·····धर्मसत्त्वशुद्धतेजसः पुरुषा बभूवुः। पराशर ज्योतिष तन्त्र। भट्टोत्पल की बृहत् संहिता टीका पृ० १५ पर उद्धृत। इसी से मिलता जुलता पराशर सतोर्ध्वं अग्निवेशकृत आयुर्वेद संहिता (चरक सं०) विमान अ० ३।२८ में भी वर्णन है।

अन्तस्वरित भतीजे का।[1] यदि स्वर का यथार्थ उच्चारण हो तो माध्यन्दिन आद्युदात्त भ्रातृव्य पद के अर्थ में कोई सन्देह ही उत्पन्न नहीं होता। परन्तु स्वर के यथार्थ उच्चारण के अभाव में अर्थ-सन्देह होगा कि उक्त वचन में शत्रु के वध का निर्देश है अथवा भतीजे के वध का। इस सन्देह के उत्पन्न होने पर ही उसकी निवृत्ति के उपाय की चिन्ता होती है। अतः

उक्त सन्देह के मूल की ही निवृत्ति के लिए काण्व शाखा १।२८ में **भ्रातृव्यस्य वधाय** के स्थान पर स्पष्टार्थक **द्विषतो वधाय** पढ़ा है। उदात्तादि स्वरों के उच्चारण-शैथिल्य के अभाव में इस प्रकार के पाठान्तरों की कोई आवश्यकता ही नहीं थी।

२—शाङ्खायन, आश्वलायन और कात्यायन आदि श्रौतसूत्रों में यज्ञकर्म में मन्त्रों का एकश्रुति से उच्चारण विहित है।[2] इससे प्रतीत होता है कि इन ग्रन्थों के प्रवचन-काल (३००० विक्रम-पूर्व) से बहुत पूर्व से ही मन्त्रों के सस्वर यथार्थ पाठ[3] करने वाले ऋत्विक् दुर्लभ होने लग गए थे। यज्ञ में स्वरों के मिथ्या उच्चारण से अर्थ का अनर्थ हो जाता है।[4] इसलिए यज्ञ में कतिपय विशिष्ट मन्त्रों को छोड़कर सामान्यतया एकश्रुति[5] का विधान किया, जिससे स्वरों के अन्यथा उच्चारण से अर्थ का अनर्थ न हो।

यज्ञ में सस्वर पाठ—अति पुराकाल में यज्ञों में समस्त मन्त्रों का पाठ सस्वर ही होता था। इसमें अनेक प्रमाण हैं। यहाँ हम दो प्रमाणों की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं।

क—श्लोकबद्ध पाणिनीय शिक्षा में एक वचन है—

दुष्टो मन्त्रः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥[6]

---

१. 'भ्रातुर्व्यच्च','व्यन् सपत्ने'। अष्टा० ४।१।१४४,१४५॥ भतीजा अर्थ का वाचक यत् प्रत्ययान्त भ्रातृव्य शब्द 'तित् स्वरितम्' (अष्टा० ६।१।१८५) से अन्तस्वरित होता है और शत्रुवाचक व्यन् प्रत्ययान्त 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (अष्टा० ६।१।१९७) से आद्युदात्त

२. शाङ्खा० १।१; आश्व० १।२; कात्या० १।८।१९ ॥

३. यहां सस्वर पाठ से अभिप्राय सस्वर मुखोच्चारण से है, हस्तादि से स्वर निर्देश का नहीं।

४. देखो, आगे उद्ध्रियमाण पाणिनीय शिक्षा का वचन।

५ देखो, इसी पृष्ठ की द्वितीय टिप्पणी।

६. महाभाष्य में भी यह वचन पठित है, उसमें प्रसङ्ग के अनुरूप 'मन्त्रः' के स्थान पर 'शब्दः' पाठ किया है।

अर्थात्—स्वर अथवा वर्ण से अशुद्ध उच्चरित दुष्ट मन्त्र उस अर्थ को नहीं कहता [जिसके लिए उसका उच्चारण किया जाता है ।] वह वाग्रूपी वज्र यजमान को नष्ट करता है[1], जैसे स्वर के अपराध से इन्द्रशत्रु ने किया ।

इस वचन में इन्द्रशत्रु की जिस आख्यायिका की ओर सङ्केत है, उसके अनुसार त्वष्टा नाम के असुर ने अपने पुत्र वृत्र की वृद्धि के लिए जो यज्ञ किया था, उसमें इन्द्र अथवा भेदनीति के द्वारा अपनी ओर मिलाए गए ऋत्विजों ने इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व मन्त्र में अन्तोदात्त इन्द्रशत्रु पद के स्थान में इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व आद्युदात्त पद का प्रयोग कर दिया । उससे इन्द्र वृत्र का शत्रु = मारनेवाला बन गया ।

इस आख्यायिका से स्पष्ट है कि उस समय में यज्ञ में मन्त्रों का पाठ सस्वर होता था, अन्यथा एकश्रुतिपक्ष में इस आख्यायिका की उपपत्ति ही नहीं होती ।

ख—नारदीय शिक्षा जो कि सम्भवतः उपलब्ध शिक्षा-ग्रन्थों में सबसे प्राचीन है, लिखा है—

प्रहीणः स्वरवर्णाभ्यां यो वै मन्त्रः प्रयुज्यते ।
यज्ञेषु यजमानस्य रुषत्यायु प्रजां पशून् ॥ १।६ ॥

अर्थात्—यज्ञों में स्वर और वर्ण से हीन जो मन्त्र प्रयुक्त होता है, वह यजमान की आयु, प्रजा और पशु आदि को नष्ट करता है ।

इन दो प्रमाणों से स्पष्ट है कि अति पुराकाल में यज्ञों में मन्त्र उदात्त आदि स्वरों से युक्त पढ़े जाते थे । उत्तरकाल में सस्वर मन्त्रपाठ में कुशल ऋत्विजों की सुलभता में कोई कठिनाई होने पर यज्ञ में एकश्रुति का विधान किया गया ।

३—इनसे कुछ उत्तरवर्ती आचार्य पाणिनि (२८०० वि० पूर्व)[2] ने यज्ञकर्म से अन्यत्र भी मन्त्रोच्चारण में विकल्प से एकश्रुति स्वर का विधान किया है । इससे भी क्रमशः सस्वर उच्चारण के शैथिल्य का ही बोध होता है ।

---

१. अर्थात् यजमान के अभिप्राय को, जिसके लिए उसने यज्ञ का आरम्भ किया है ।

२. पाश्चात्य तथा तदनुयायी अन्य लेखक पाणिनि को ४००–६०० विक्रम पूर्व मानते हैं । यह नितान्त मिथ्या है । भारतीय इतिहास के अनुसार पाणिनि २८०० वि० पूर्व से उत्तरवर्ती नहीं हो सकता । देखो—हमारा 'सं० व्या० शास्त्र का इतिहास' भाग १, पृष्ठ १२५–१४० ।

४—इसी काल के वाजसनेय प्रातिशाख्य (२८०० वि० पूर्व) में आचार्य कात्यायन ने उदात्तादि स्वरों का हस्त-चालन से निर्देश करने का विधान किया है। यथा—

हस्तेन ते ।१।१२१॥

अर्थात्—पूर्वोक्त उदात्त आदि स्वरों का हस्त के ऊर्ध्व-चालन आदि से निदर्शन कराना चाहिए।

याज्ञवल्क्य शिक्षा में उदात्त आदि स्वरों के प्रदर्शनार्थ हस्तचालन का सुन्दर विधान उपलब्ध होता है। यह प्रक्रिया आज तक माध्यन्दिनी वेदपाठियों में सुरक्षित है।

५—नारदशिक्षा कण्डिका ६ के आरम्भ में साम के सप्तस्वरों का गान गात्र-वीणा में दर्शाया है (इसी प्रकरण में गात्र-वीणा का पूरा स्वरूप भी स्पष्ट किया है)। गात्र-वीणा से साम-स्वरों का प्रदर्शन भी ठीक वैसा ही है, जैसा माध्यन्दिनों में हस्तचालन से स्वरप्रदर्शन।

इन सब प्रमाणों से स्पष्ट है कि उदात्तादि स्वरों का उच्चारण द्वारा भेद-प्रदर्शन चिरकाल से शिथिल हो रहा था। इस शैथिल्य से वेद स्वर-रहित न हो जाएँ, इसलिए तात्कालिक आचार्यों ने हस्त आदि आङ्ग चालन द्वारा उदात्तादि स्वरों के प्रदर्शन की परिपाटी आरम्भ की। इसका यह लाभ हुआ कि वेदों के स्वर-चिह्न नष्ट नहीं हुए, वे आज भी सस्वर उपलब्ध हो रहे हैं।

महाभाष्य और सस्वर पाठ—महाभाष्य १।१।१ में लिखा है—

एवं हि दृश्यते लोके-य उदात्ते कर्तव्ये अनुदात्तं करोति, खण्डिकोपाध्यायस्तस्मै चपेटां ददाति, अन्यत्त्वं करोषीति।

अर्थात्—लोक में देखा जाता है कि जो उदात्त करने के स्थान में अनुदात्त कर देता है, उसे खण्डिकोपाध्याय चपड़े लगाता है, अन्यथा करता है?

इस उद्धरण से यह स्पष्ट ज्ञात नहीं होता कि यहां उदात्त आदि स्वर का अन्यथाकरण उच्चारण द्वारा अभिप्रेत है, अथवा हस्तादि के चालन द्वारा। दोनों ही प्रकार के अन्यथाकरण का सम्भव हो सकता है। परन्तु स्वर-लोप के पूर्व-विवरण के प्रकाश में हस्तादि चालन के अन्यथाकरण की ही यहां अधिक सम्भावना है।

स्वर-लोप का प्रकार

भाषा में उदात्त आदि स्वरों का क्रमशः किस प्रकार लोप हुआ, इसके ज्ञान के लिए भाषा में प्रयुज्यमान स्वरों की स्थिति का ज्ञान अपेक्षित है।

भाषा में स्वर-स्थिति—वक्ता अपने यथार्थ अभिप्राय को व्यक्त करने के लिए भाषा का आश्रय लेता है। भाषा वाक्यों के समूह का नाम है। और वाक्य पदों के समूह का।[1] इस प्रकार भाषा की इकाई के पदरूप होने पर भी व्यवहार में वाक्यार्थ की प्रधानता होने से वाक्य ही प्रधान माना जाता है, पद उसकी अपेक्षा गौण होते हैं।[2] इसीलिए निर्वचनशास्त्र-पारङ्गत आचार्यों का कथन है कि किसी भी पद का निर्वचन उसकी वाक्यस्थ स्थिति का ज्ञान करके ही करना चाहिए, स्वतन्त्र रूप से नहीं।[3]

इस प्रक्रिया के अनुसार प्रति पद स्वतन्त्र स्वर की विद्यमानता होने पर भी वाक्यार्थ की प्रधानता की दृष्टि से पदों के स्वतन्त्र स्वरों में कुछ परिवर्तन हो जाता है। इसलिए भाषा में प्रयुज्यमान स्वर न केवल पदात्मक हैं और न केवल वाक्यात्मक। दोनों का अविभाज्य समन्वय है।

वैदिक ग्रन्थों में प्रयुज्यमान स्वर भी इसी प्रकार के पद-वाक्य उभयात्मक हैं।

पद-स्वर का लोप—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित इन तीनों में उदात्त स्वर ही प्रधान माना जाता है। उदात्त स्वर प्राय. प्रत्येक पद रहता है। उसीसे पद के विशिष्ट अर्थ की प्रतीति होती है।[4] मेधा के ह्रास के कारण जब प्रतिपद सूक्ष्म-अर्थ-ज्ञान की शक्ति का क्षय हुआ, तब पदस्वर की उपेक्षा के कारण उसका लोप हुआ।

वाक्य-स्वर—प्रतिपद सूक्ष्मार्थ-निदर्शक पदस्वर के लोप के पश्चात् वाक्य-स्वर प्रतिष्ठित हुआ। सम्पूर्ण वाक्य में विशिष्ट अर्थ वक्तव्य होता था, उसे प्रकट करने के लिए वाक्य के उसी पद में उदात्तस्वर का उच्चारण किया जाता था, जिससे वाक्य का विशिष्ट अर्थ अभिव्यक्त हो। इस वाक्यस्थ उदात्तस्वर को संस्कृत में काकु-स्वर कहा जाता है। इसे ही पाश्चात्य भाषाविद् बलाघात कहते

---

१. वाक्य और पद के विविध लक्षणों के लिए 'भाषा का इतिहास. (द्वि० सं०) पृष्ठ ७९–९१ तक देखना चाहिए।

२. पदानां रूपमर्थो वा वाक्यार्थादेव जायते। संग्रहवचन. वाक्यपदीय विवरण भाग १ पृ० ४२ पर उद्धृत।

३. व्युत्पत्तौ वाक्यस्थं पदम्। वाक्यपदीयविवरण भाग १, पृष्ठ ४३। तथा निर्वचनं ब्रूयात् वाक्यार्थस्यावधारणम्। वायुपुराण ५९।१२४॥ नैकपदानि निर्ब्रूयात्। निरुक्त २।२॥

४. उदात्त स्वर से विशिष्टार्थ की प्रतीति कैसे होती है, इसकी विवेचना अगले अध्याय में की जाएगी।

हैं। सम्प्रति यह काकुस्वर भी प्रत्येक वाक्य में प्रयुक्त नहीं होता, कहीं कहीं ही इस का प्रयोग होता है।

जिस प्रकार संस्कृत भाषा में पदस्वर का लोप हुआ, उसी प्रकार ग्रीक भाषा में भी पदस्वर का लोप हुआ और वह वाक्य-स्वर के रूप में परिणत हो गया।[1]

वाक्य-स्वर का लोप—उत्तर काल में प्रतिवाक्य प्रयुक्त होने वाले काकुस्वर का भी प्रायः लोप हो गया। इसका प्रयोग सस्कृत में यत्र तत्र ही देखा जाता है।

सन्दर्भस्वर—काकु नामक वाक्य-स्वर के लोप होने पर वह सन्दर्भस्वर के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में सन्दर्भस्वर का उल्लेख इस प्रकार किया है—

तत्र हास्यशृङ्गारयोः स्वरितोदात्तवर्णैं पाठ्यमुपपाद्यम्, वीररौद्राद्भुतेषूदात्तकम्पितै करुणबीभत्सभयानकेष्वनुदात्तस्वरितकम्पितै. । १७।११०॥

अर्थात्—हास्य और शृङ्गार रस में स्वरितोदात्त वर्णों से पाठ करे, वीर, रौद्र और अद्भुत रस में उदात्तकम्प से युक्त वर्णों से तथा करुण, बीभत्स और भयानक रस में अनुदात्त, स्वरित कम्प से युक्त वर्णों से।

भरत मुनि के उक्त वचन से स्पष्ट है कि यहाँ भिन्न-भिन्न रस में पाठ्य-सन्दर्भ का भिन्न-भिन्न स्वरों में उच्चारण करने का जो विधान किया है, वह सन्दर्भ-स्वर की स्थिति में ही उपपन्न हो सकता है।

सन्दर्भ स्वर का लोप—उत्तर काल में भरतमुनि-प्रोक्त सन्दर्भ स्वर का भी लोप हो गया।

साहित्य-शास्त्र और स्वर—उदात्त आदि स्वरों के लोप में अर्वाचीन साहित्य शास्त्र का भी भारी हाथ है। साहित्यशास्त्रियों ने अपनी बुद्धि का वैभव दिखाने के लिए अर्थ-नियामक स्वर की, जो कि वर्णों का उच्चारण धर्म था, न केवल उपेक्षा की, अपितु उसे काव्यमार्ग में भारी प्रतिबन्धक मानकर उसका विरोध किया। काव्यप्रकाशकार मम्मट लिखता है—

काव्यमार्गे स्वरो न गण्यते।९।८४। पृष्ठ ३२१ (मैसूर सं०)

अर्थात्—काव्य-सम्प्रदाय में स्वर-भेद नहीं माना जाता।

इसी को स्पष्ट करता हुआ विश्वनाथ लिखता है—

---

१. वैदिक-साहित्य-चरित्रम्, पृष्ठ ६०।

यदि यत्र क्वचिद् अनेकार्थशब्दानां प्रकरणादिनियमाभावादनियन्त्रितयोरप्यर्थयोरनुरूपस्वरवशेनैकत्र नियमनं वाच्यम्, तथाविधस्थले श्लेषानङ्गीकारप्रसंगः। साहित्यदर्पण २।१४॥

अर्थात्—यदि कहीं अनेकार्थ शब्दों में प्रकरणादि से अनियन्त्रित अर्थों में स्वर के अनुसार अर्थविशेष का नियमन माना जाए, तो उक्त प्रकार के स्थलों में श्लेष अलंकार की हानि होगी।

साहित्यविशारदों की भ्रान्ति—साहित्यशास्त्र के अनुशीलन करनेवाले लोगों में एक महती भ्रान्ति दिखाई देती है। वे समझते हैं कि स्वर श्लेष में सर्वत्र बाधक है। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। स्वर केवल सभंग श्लेष में ही कुछ सीमा तक[1] बाधक होता है, अभङ्ग श्लेष में तो स्वर कहीं भी बाधक नहीं होता। साहित्यविशारदों को स्वरशास्त्र का यथार्थ सूक्ष्म ज्ञान न होने से वे उसकी सूक्ष्म विवेचना करने में असमर्थ रहे। अन्यथा वे श्लेषमात्र में स्वर को दोषावह न लिखते।

साहित्यमीमांसक और वैदिक स्वर—इतना होने पर भी साहित्यमीमांसकों ने वेद में स्वर की अर्थ-परिच्छेदकता को स्वीकार किया है। विश्वनाथ स्पष्ट शब्दों में लिखता है—

स्वरस्तु वेद एव विशेषप्रतीतिकृत्। साहित्यदर्पण परि० २।

अर्थात्—स्वर वेद में ही विशेष अर्थ का द्योतन कराने वाला है [काव्य में नहीं]।

कतिपय आर्यसमाजी महारथी—मध्यकालीन साहित्यशास्त्रियों ने काव्यशास्त्र में स्वर को अनुपयोगी मानते हुए भी वेद में उसकी उपयोगिता स्वीकार की है। परन्तु साहित्यशास्त्र-मात्र तक कुछ गति रखने वाले आर्यसमाज के कतिपय गुरुकुलों के आचार्य तथा वेद के माने गए विद्वान् वेदार्थ में भी स्वर को उसी प्रकार बाधक मानते हैं, जिस प्रकार साहित्यशास्त्री काव्यशास्त्र में। वस्तुत' इन विद्वानों ने साहित्यशास्त्र का भी विधिवत् सागोपाङ्ग अध्ययन नहीं किया, अन्य शास्त्रों के विषय में तो कहना ही क्या? व्याकरण की किञ्चित् गन्ध ले लेने पर भी स्वरशास्त्र के पास भी नहीं फटके। इतना ही नहीं इन्होंने अपने आचार्य के ग्रन्थों का भी ध्यानपूर्वक मनन नहीं किया। अत एव ये लोग वेदार्थ में भी स्वर को बाधक मानते हैं। माने भी क्यों नहीं,

---

१. सभङ्गश्लेष में जहाँ स्वर का विरोध नहीं होता, वहां वेद में सभङ्ग-श्लेष भी माना जाता है। यथा 'मासकृत्' (ऋ० १।१०५।१८) पद में—मा सकृत्, मासकृत्। देखो निरुक्त ५।२१॥

इनके अनियन्त्रित, स्वकल्पित, मनमाने तथा कथित वेदार्थ में स्वर बाधक जो बनता है। अब तो ऐसे भी स्वयम्भू आचार्य उत्पन्न हो गए हैं जो वेदार्थ में व्याकरण, निरुक्त और ब्राह्मण ग्रन्थ जैसे साक्षात् उपकारक शास्त्रों को भी वेदार्थ में बाधक कहने की धृष्टता करने लग गए हैं। वे अपनी स्वकथित साधना अथवा तपस्या को ही एकमात्र वेदार्थ का साधन मानते हैं।[1]

स्वामी दयानन्द सरस्वती और स्वर—स्वामी दयानन्द सरस्वती इस युग के असाधारण-प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति थे। उनकी प्रत्येक शास्त्र में अप्रतिहत गति थी। उन्होंने अपनी लोकोत्तर सूक्ष्म मेधा के द्वारा देशकाल से व्यवहित अनेक ऐसे प्राचीन सूक्ष्म तत्त्वों का पुनर्दर्शन किया, जो भगवान् व्यास, याज्ञवल्क्य और जैमिनि आदि के काल में भी संम्भवतः लुप्त हो चुके थे।[2] ऐसा प्रतिभाशाली विद्वान् लिखता है—

> वेदार्थोपयोगितया सक्षेपतः स्वराणां व्यवस्था लिख्यते।
>
> ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृष्ठ २७४ (तृ० सं०)।

अर्थात्—वेदार्थ में उपयोगी होने से सक्षेप से स्वरों की व्यवस्था लिखते हैं।

इससे स्पष्ट है कि आर्यसमाज के वैदिक विद्वानों का वेदार्थ में स्वरशास्त्र की उपेक्षा करना, अथवा उसे बाधक बताना उनके आचार्य के मन्तव्य के ही विपरीत है। वास्तविकता तो यह है कि स्वरशास्त्र के ज्ञान के बिना वेद का वास्तविक अर्थ समझ में आ ही नहीं सकता।[3] अतः वेद के जिज्ञासु को स्वरशास्त्र का यथार्थ ज्ञान अवश्य करना चाहिए।

अब अगले अध्याय में उदात्त आदि स्वरों का पदार्थ और वाक्यार्थ पर क्या प्रभाव पडता है, इसकी मीमांसा करेंगे।



---

१. पचीस वर्ष हुए हमने एक ऐसे वेदभाष्यकार के भी दर्शन किए थे, जिन्हें लौकिक संस्कृत का नाममात्र भी ज्ञान नहीं था। उन्होंने अपनी साधना और अन्त प्रेरणा से ऋग्वेद के एक आध सूक्त का ऊटपटांग भाष्य छपवाया था। ये महात्मा अमृतसर के निवासी थे॥

२ देखिए, 'वेदार्थ की विविध-प्रक्रियाओं का ऐतिहासिक अनुशीलन' नामक हमारा निबन्ध, पृष्ठ २९-३१॥

३ इसकी विशेष मीमांसा आठवें अध्याय में की जाएगी॥

पञ्चम अध्याय

स्वर का पदार्थ और वाक्यार्थ पर प्रभाव

उदात्त आदि स्वरों के भेद, उनके उच्चारण-प्रकार तथा संसार की प्राचीन भाषाओं में उनका सद्भाव आदि विषयों पर गत अध्यायों में लिखा जा चुका है। स्वरों का पदार्थ और वाक्यार्थ पर क्या प्रभाव पड़ता है, इसकी मीमांसा इस अध्याय में की जाएगी।

गत अध्याय में इन्द्रशत्रु-सम्बन्धी जिस आख्यायिका का संक्षेप से निर्देश किया है, उससे स्पष्ट है कि आद्युदात्त और अन्तोदात्त इन्द्रशत्रु शब्द के अर्थ में कितना अन्तर हो जाता है। इसी प्रकार पाणिनीय अष्टाध्यायी के क्षयो निवासे, जय. करणम् (६।१।२०१,२०२) सूत्रों से भी स्पष्ट है कि आद्युदात्त 'क्षय' शब्द गृह का वाची होता है और अन्तोदात्त नाश अथवा हानि का। इसी प्रकार आद्युदात्त 'जय' का अर्थ होता है जीत का साधन अश्वादि और अन्तोदात्त का अर्थ होता है जीतना।

पदार्थ पर पड़ने वाले स्वर-भेद के प्रभाव को अधिक स्पष्टतया समझाने के लिए सस्वर पद अथवा वाक्य का निर्देश करना आवश्यक है। उदात्तादि स्वरों के ज्ञान के लिए उनके चिह्नों का ज्ञान होना अत्यावश्यक है। इसलिए हम पहले स्वर-चिह्नों का निर्देश करते हैं।

उदात्त आदि स्वरों के चिह्न—चिह्न सभी कल्पित होते हैं, अतः रुचिभेद और मतिवैचित्र्य के कारण कल्पना में वैविध्य होना स्वाभाविक है। इसी कारण वैदिक ग्रन्थों में उदात्तादि स्वरों के चिह्न भी विविध रूप में उपलब्ध होते हैं। उनका विशेष वर्णन दसवें अध्याय में यथास्थान किया जाएगा। हम यहाँ साधारण रूप में प्रयुक्त होने वाले ३ स्वर-चिह्नों का निर्देश करते हैं—

उदात्त—उदात्त स्वर वाले वर्ण पर कोई चिह्न नहीं लगाया जाता। यथा—अ॒ग्निम्। इसमें 'ग्नि' पर कोई चिह्न नहीं है, अतः इसे उदात्त समझना चाहिए।[1]

---

1. उदात्तादि धर्म स्वरों=अचों के ही होते हैं, व्यञ्जनों के नहीं। यह हम पूर्व लिख चुके। अतः यहाँ 'ग्नि' के इकार को उदात्त समझना चाहिये। इसी प्रकार आगे भी समझें॥

अनुदात्त—अनुदात्त स्वर वाले वर्ण के नीचे पड़ी रेखा लगाई जाती है। यथा—अ॒ग्निम्, भा॒र॒द्वा॒ज.। यहाँ अ, भा, र, द्वा के नीचे पड़ी रेखा लगी है, अतः इन्हें अनुदात्त स्वर-युक्त समझना चाहिए।

स्वरित—स्वरित स्वरवाले वर्ण के ऊपर खड़ी रेखा लगाई जाती है। यथा—अ॒ग्निमी॑ळे, का॒र्यं॑म्। इनमें अ॒, का॒ अनुदात्त हैं, मीं, यँ के ऊपर खड़ी रेखा लगी है, अतः ये स्वरित हैं।

एकश्रुति अथवा प्रचय—एकश्रुति स्वर के विषय में द्वितीय अध्याय में विस्तार से लिख चुके हैं। संहिता में जो अक्षर एकश्रुति स्वर से युक्त होते हैं, उन पर किसी प्रकार का चिह्न नहीं लगाया जाता। यथा—अ॒ग्निमी॑ळे। यहाँ ळे एकश्रुति स्वर से युक्त है।

उदात्त और एकश्रुति चिह्नरहित—ऊपर के लेख से स्पष्ट है कि वैदिक ग्रन्थों में उदात्त और एकश्रुति दोनों पर कोई चिह्न नहीं लगाया जाता, इसलिए इन दोनों का भेद जानना आवश्यक है।

उदात्त और एकश्रुति का भेद—स्वरित अथवा अनुदात्त चिह्नयुक्त वर्ण से पूर्व जो एक अथवा दो वर्ण किसी भी प्रकार के चिह्न से रहित हों, उन्हें उदात्त जानना चाहिए, और जो स्वरित चिह्नयुक्त वर्ण से परे बिना चिह्न के वर्ण हों, उन्हें एकश्रुति-स्वरयुक्त समझना चाहिए।

स्वरित के दो भेद—स्वरित स्वर ९ प्रकार का होता है। उनकी विशद व्याख्या तृतीय अध्याय में कर चुके। यहाँ हमें दो प्रकार के स्वरितों से कार्य है। एक वह जो उदात्त स्वर से परे होता है। इसे संहितज स्वरित कहते हैं। दूसरा जो अनुदात्त[1] से परे देखा जाता है। इसे जात्यस्वरित कहा जाता है। जो स्वरित समान पद में उदात्त से परे उपलब्ध होता है, वह यथार्थ में अनुदात्त ही होता है। अतः इस संहितज स्वरित का पदार्थ पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। जो स्वरित एक पद में अनुदात्त से परे अथवा क आदि एकाच् पदों में स्वतन्त्ररूप से प्रयुक्त होता है, वह जात्यस्वरित शब्दार्थ पर कुछ प्रभाव डालता है। इसलिए ९ प्रकार के स्वरितों में अर्थ की दृष्टि से केवल जात्यस्वरित ही महत्त्वपूर्ण माना जाता है।[2]

---

१ यहाँ अनुदात्त से अभिप्राय अनुदात्तस्वरयुक्त वर्ण से है। ऐसे ही उदात्त और स्वरित का अभिप्राय उन उन स्वरों से युक्त वर्णों से है॥

२. जिन वैदिक ग्रन्थों में केवल उदात्त स्वर पर ही चिह्न लगाया जाता है, उनमें जात्य स्वरित को प्रकट करने के लिए भी संकेत किया जाता है। इससे भी जात्य स्वरित की प्रधानता स्पष्ट है॥

उदात्त आदि स्वरों का पदार्थ पर प्रभाव

उदात्त, अनुदात्त, और स्वरित स्वरों (उच्चारण धर्मों) का शब्द के अर्थों पर क्या प्रभाव पड़ता है, इसका विवरण हम नीचे देते हैं।

पदस्वर—संस्कृत भाषा में जितने भी नाम[1] और आख्यात (क्रियापद) हैं, वे सब धातु और प्रत्यय के योग से बने हुए हैं।[2] प्रायः एक पद में एक वर्ण ही उदात्त होता है, शेष वर्ण अनुदात्त रहते हैं।[3] उदात्त और अनुदात्त में उदात्त ही प्रधान होता है। (अत एव एक पद में एक ही उदात्त होता है, अधिक नहीं, अनुदात्त तो अनेक होते हैं)। पद के प्रकृति अथवा प्रत्ययरूपी जिस भाग में उदात्त स्वर रहता है उसी भाग का अर्थ मुख्य होता है। अत एव निरुक्तकार यास्क ने लिखा है—

तीव्रार्थतरमुदात्तम्, अल्पीयोऽर्थतरमनुदात्तम्। निरुक्त ४।२५॥

अर्थात्—उदात्त का अर्थ तीव्र होता है, और अनुदात्त का अल्प=गौण।

इसी भाव को पाणिनि ने उच्चैरुदात्त', नीचैरनुदात्त., समाहारःस्वरितः (अष्टा० १।२।२९–३१) सूत्रों से दर्शाया है। ये सूत्र कतिपय प्रातिशाख्यों में भी उपलब्ध होते हैं।

समास-स्वर—जिस प्रकार एक पद में उदात्त स्वर वाले प्रकृति अथवा प्रत्यय भाग के अर्थ की प्रधानता होती है, उसी प्रकार समास में भी जिस पद में उदात्तत्व रहता है, समास में उसी पद का अर्थ प्रधान होता है। वेङ्कट माधव लिखता है—

तत्रोत्तरपदार्थस्य प्राधान्यं यत्र वर्तते।
उदात्तस्तत्र भवति··············॥
यदि स्वरः पूर्वपदे तदर्थः स्फुटो भवेत्।

---

१. कतिपय आधुनिक वैयाकरण रूढ माने जाने वाले शब्दों को धातु-निष्पन्न नहीं मानते। परन्तु प्राचीन परम्परा के अनुसार संस्कृत भाषा में कोई भी शब्द रूढ नहीं है। यदृच्छा शब्द संस्कृत भाषा के अंग नहीं हैं। इसीलिए वैयाकरणों में एक पक्ष है—न सन्ति यदृच्छाशब्दा'। (महाभाष्य ऋलृक्सूत्रे) अर्थात् यदृच्छा शब्द नहीं हैं॥

२. प्राचीन वैयाकरणों के मतानुसार अव्यय, निपात और उपसर्ग भी धातु से निष्पन्न माने जाते हैं॥

३. 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्'। अष्टा० ६।१।१५८॥

सर्वेष्वेव समासेषु यत्र यत्र स्वरो भवेत् ।
काशं कुशं वावलम्ब्य स्वरं तं स्थापयेत् ॥
स्वरानुक्रमणी १।३।२, ३, २२ ॥

अर्थात्—उत्तरपद के अर्थ की जहाँ प्रधानता होती है, वहाँ उत्तरपद में उदात्त स्वर रहता है। यदि उदात्त स्वर पूर्वपद में हो तो उसका अर्थ विस्पष्ट = प्रधान होता है। सब समासों में जहाँ जहाँ उदात्त स्वर हो, उसके अर्थ की प्रधानता किसी न किसी प्रकार (काशकुशावलम्बन्याय से) स्पष्ट करनी चाहिए।

वाक्य-स्वर—इसी प्रकार वाक्य में जिन क्रियादि पदों का उदात्तत्व अथवा अनुदात्तत्व देखा जाता है, वहाँ उनके अर्थों की प्रधानता अथवा गौणता होती है। इस विषय का उपपादन करके वेङ्कट माधव स्पष्ट शब्दों में लिखता है—

एवं पदे समासे च यत्रोदात्तो व्यवस्थितः ।
वर्णे पदे वा तत्रापि काकुरस्तीति निश्चयः ॥
स्वरा० १।१।२० ॥

अर्थात्—वाक्य के अथवा समास के जिस पद में अथवा पद के जिस वर्ण में उदात्त स्वर हो, उसी में काकु (= विशेषार्थबोधक ध्वनि-विशेष) समझनी चाहिए, यह बात निश्चित है।

समासस्वर और वाक्यस्वर को स्पष्ट करने के लिए हम एक उदाहरण देते हैं—

ब्राह्मणग्रामं गच्छ = हे ब्राह्मण गाँव को जा।
ब्राह्मणग्रामंगच्छ = ब्राह्मणों का जो गाँव है, उसको जा।
ब्राह्मणग्रामंगच्छ = ब्राह्मण जिस गाँव में रहते हैं, उसको जा।

पहले वाक्य में ब्राह्मण और ग्राम दोनों पदों में उदात्तत्व होने से ये दो स्वतन्त्र पद हैं। ब्राह्मण पद में यहाँ जो आद्युदात्तत्व दिखाई पड रहा है वह संबोधन के कारण है।[1] अतः इसका अर्थ होगा—हे ब्राह्मण गाँव को जा। द्वितीय और तृतीय वाक्य में ब्राह्मणग्राम समुदाय में एक उदात्त है। अत. ये दोनों पद समस्त हैं।[2] द्वितीय वाक्य में अन्तोदात्त स्वर होने से वहाँ षष्ठी

---

१. ब्राह्मण पद अन्तोदात्त है। पर यहाँ 'आमन्त्रितस्य च' (अष्टा० ६।१। १९८) से आद्युदात्त है।

२ समास का फल अनेक पदों का एक पद और अनेक स्वरों का एक स्वर होना ही है। द्र० 'समर्थः पदविधिः' (अ० २।१।१) सूत्र का भाष्य।

तत्पुरुष समास माना जाता है।[1] अतः अर्थ होगा—ब्राह्मणों का जो ग्राम है, उसको जा। तृतीय वाक्य में पूर्वपद ब्राह्मण में उदात्तत्व है। इससे बहुव्रीहि समास की प्रतीति होती है।[2] इसलिए इसका अर्थ होगा—ब्राह्मण जिस गाँव में रहते हैं, उसको जा।

उदात्त स्वर के शब्दार्थ पर पड़नेवाले प्रभाव के उदाहरण

अब हम उदात्त स्वर के शब्दार्थ पर पड़नेवाले पूर्वनिर्दिष्ट प्रभाव को कतिपय उदाहरणों से व्यक्त करते हैं—

पद-स्वर—पाणिनि के मतानुसार गन्ता, पक्ता आदि पद तृच् और तृन् प्रत्ययों से निष्पन्न होते हैं। तृजन्त गन्ता, पक्ता आदि पद अन्तोदात्त होते हैं, अर्थात् उनके प्रत्ययभाग में उदात्तस्वर रहता है और तृनन्त गन्ता पक्ता आदि पद आद्युदात्त होते हैं, अतः उनके धातुभाग में उदात्तस्वर रहता है। इसलिए तृजन्त ग॒न्ता,प॒क्ता पद के अर्थ में क्रिया करने वाले कर्त्ता की मुख्यता होती है—जाने अथवा पकाने की क्रिया करने वाला। तृनन्त गन्ता॒ पक्ता॒[3] में धात्वर्थ की प्रधानता होती है। अतः उनका अर्थ होगा—अच्छे प्रकार जाने अथवा पकाने की क्रिया करने वाला। इस अर्थ में धात्वर्थ की मुख्यता होने से क्रिया का सौष्ठव विशेष रूप से व्यक्त होता है।

वाक्य-स्वर[4]—अब इन्हीं गन्ता और पक्ता शब्दों को वाक्य में प्रयुक्त कीजिए। वाक्य में भी इसका प्रयोग दो प्रकार से होगा, वाक्य के आरम्भ में और क्रिया अन्त में, अथवा क्रिया आरम्भ में और गन्ता आदि पद अन्त में। दोनों प्रकार से स्वरों में भेद होता है और अर्थ भी भिन्न होता है। यथा—

ग॒न्ता ग॒च्छ॒ति॒, प॒क्ता ग॒च्छ॒ति॒ इन वाक्यों में गन्ता, पक्ता के प्रत्ययभाग में उदात्तत्व है और गच्छति पद सारा अनुदात्त है। अतः इन वाक्यों में तृच् प्रत्यय के अर्थ की प्रधानता होगी और गच्छति क्रिया की गौणता। तदनुसार अर्थ होगा—जाने अथवा पकाने की क्रिया करने वाला जाता है।

---

१. 'समासस्य'। अष्टा० ६।१।२२३॥

२. 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्'। अष्टा० ६।२।१॥

३ इस प्रकरण में उदात्त और अनुदात्त के स्पष्ट भेद-ज्ञान के लिए उदात्त से परे अनुदात्तों का स्वरित और एकश्रुति स्वर से निर्देश नहीं किया है॥

४. यद्यपि क्रमानुसार इस स्वर का वर्णन समासस्वर के पश्चात् करना चाहिए, तथापि पदस्वर से इसका साक्षात् संबन्ध होने से इसका प्रथम निर्देश किया है॥

गन्ता गच्छति, पक्ता गच्छति इन वाक्यों में गन्ता और पक्ता के धातु भाग में उदात्तस्वर और गच्छति अनुदात्त है। अतः इन वाक्यों में गन्ता और पक्ता के धात्वर्थ की ही प्रधानता होगी। अर्थ होगा—अच्छे प्रकार जाने अथवा पकाने की क्रिया करने वाला जाता है।

अब इन्हीं वाक्यों को उलट दीजिए, गच्छति क्रिया का प्रयोग पहले कीजिए, झट गच्छति क्रिया उदात्त हो जाएगी और उसके अर्थ की प्रधानता व्यक्त होगी—

गच्छति गन्ता, गच्छति गन्ता, गच्छति पक्ता, गच्छति पक्ता—इन वाक्यों में गन्ता और पक्ता पदों में तो स्वर-भेद से पूर्व वाला ही अर्थ-भेद व्यक्त होगा, परन्तु गच्छति पद में उदात्त स्वर आ जाने से 'गच्छति' क्रिया की प्रधानता होगी और उसी प्रकार से उसके अर्थ की प्रधानता व्यक्त होगी, जैसे हिन्दी के 'जा रहा है देवदत्त' वाक्य में जा रहा अर्थ की प्रधानता प्रतीत होती है। अब इसी गच्छति पद में उदात्तत्व के साथ काकुध्वनि और मिश्रित कर दीजिये, अर्थ होगा—जा रहा है? (प्रश्नात्मक)।

समास-स्वर—इसी प्रकार स्वर की महिमा समास में देखिए—समासभेद से स्वर-भेद अथवा यों कहिए स्वरभेद से अर्थ-भेद होता है। उदाहरण है—

लम्बकर्णम् आनय, लम्बकर्णम् आनय।

इन दोनों वाक्यों में लम्बकर्ण पद में दो प्रकार का स्वर है। एक में पूर्वपद लम्ब में उदात्त स्वर है, दूसरे में उत्तरपद कर्ण में। अतः उदात्तस्वर की महिमा से दोनों का अर्थ इस प्रकार होगा—

प्रथम लम्बकर्ण पद में लम्ब में उदात्तत्व होने से अर्थ होगा—लम्बे कान वाले को लाओ। इसमें लम्ब और कर्ण दोनों की प्रधानता न होकर अन्य पदार्थ—लम्बे कान वाले प्राणी—की प्रधानता है। लम्ब और कर्ण दोनों अप्रधान = गौण हैं। परन्तु इन दोनों गौण पदों में तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाए तो ज्ञात होगा कि दोनों में लम्ब प्रधान है और कर्ण पद गौण। कानवाले तो सभी प्राणी हैं। अतः किसको लाया जाए, इसको व्यक्त करने के लिए कान का लम्ब विशेषण दिया गया। इसी लम्ब विशेषण की महत्ता से कानवाले सामान्य प्राणियों से भेद होकर लम्बकर्ण का अर्थ 'गदहा' हुआ। इससे दोनों पदों के गौण होने पर भी कर्ण की अपेक्षा लम्ब की प्रधानता है। इसी प्रधानता को व्यक्त करने के लिए उदात्त स्वर कर्ण पर न होकर लम्ब पद में उच्चरित होता है। इसी सूक्ष्म तत्त्व को व्यक्त करने के लिए पाणिनि ने उत्सर्ग सूत्र पढ़ा—बहुव्रीहौ

प्रकृत्या पूर्वपदम् (६।२।१) अर्थात् बहुव्रीहि में पूर्वपद का जो स्वर है, वही समास में भी रहता है।

द्वितीय लम्बकर्ण पद में कर्ण में उदात्तत्व है। इसलिए इसका अर्थ होगा—लम्बा कान लाओ। इसमें लम्ब और कर्ण दोनों पदों में से कर्ण पद की प्रधानता है। क्योंकि वक्ता कान मँगाना चाहता है, और सेवक भी कान ही लाकर उपस्थित करता है। लम्बत्व धर्म भी कान के आश्रित होकर ही अर्थको व्यक्त करता है स्वतन्त्र रूप से नहीं। यदि लम्बत्व-धर्म का आनयन वक्ता को मुख्य रूप से अभिप्रेत हो तो लम्बत्व-धर्म-विशिष्ट किसी भी लाठी आदि पदार्थ से वक्ता का अभिप्राय सिद्ध हो सकता है। यतः वक्ता कटे हुए लम्बे कान को ही मंगाना चाहता है और लम्बत्वधर्म-विशिष्ट कान के समय पर उपलब्ध न होने पर उसके प्रतिनिधि रूप में कान मात्र से कार्य चलाया जा सकता है। अतः उदात्तस्वर कर्ण में ही उच्चरित होता है, लम्ब में नहीं।

इसी बात को स्पष्ट करने के लिए दूसरा उदाहरण लीजिए—कोई गृहस्वामी यज्ञ आदि कार्य कराने के लिए वृद्ध ब्राह्मण को बुलाना चाहता है। वह सेवक को कहता है—वृद्धब्राह्मणम् आनय। दैवयोग से सेवक को यज्ञकर्म के लिए वृद्धब्राह्मण नहीं मिलता, वापस आ जाता है। उस पर रुष्ट होकर स्वामी कहता है—अरे मूर्ख वृद्धब्राह्मण नहीं मिला तो किसी भी ब्राह्मण को ले आता, हमें तो यज्ञ कराना है, वृद्ध से ही तो विशेष प्रयोजन नहीं।

इससे स्पष्ट है कि विशेष्यविशेषण समास में पूर्वपद विशेषण की अपेक्षा उत्तरपद विशेष्य के अर्थ की मुख्यता होती है। इसी तत्त्व को व्यक्त करने के लिए पाणिनि ने एक उत्सर्ग सूत्र पढ़ा—समासस्य। (६।१।२२३) अर्थात् समास (अगले अपवादों को छोड़कर) अन्तोदात्त होता है।

पद, समास और वाक्यस्वरों में तारतम्य—पदस्वर, समासस्वर और वाक्यस्वर (तिङ्स्वर) में वाक्यस्वर की अपेक्षा समासस्वर और उसकी अपेक्षा पदस्वर सूक्ष्म होता है। यह हमारी पूर्वव्याख्या से स्पष्ट है। इसीलिए वेंकट माधव लिखता है—

तत्रैतस्मिन् पदे काकुर्देवैरेवावगम्यते।
सूक्ष्मविद्भिः समासस्थः प्राकृतैरपि तिङ्स्वरः॥ स्वरानुक्रमणी १।१।२२॥

अर्थात्—पदान्तर्गत काकु = उदात्तस्वर (यथा—गन्ता-गन्ता) से अर्थ का सूक्ष्मभेद देवों से ही जाना जा सकता है। समासस्वर से अर्थ-भेद सूक्ष्मविद् विद्वानों से ज्ञेय है। और तिङ्स्वर (= वाक्यस्वर) से गम्यमान अर्थभेद साधारण जनों से भी जाना जाता है।

हिन्दी में तिङ्स्वर—यह स्थूल तिङ्स्वर हिन्दी में भी थोड़ा बहुत प्रयुक्त होता है। यथा—जा देवदत्त, देवदत्त जा। पूर्ववाक्य में वक्ता जा पद पर बल देता है और द्वितीय वाक्य में जा धीरे से बोला जाता है। यह उच्चारण तथा उससे प्रतीयमान सूक्ष्म अर्थभेद स्वाभाविक है। इसीलिए संस्कृत में भी जहाँ आख्यात वाक्य के आरम्भ में आता है वह उदात्त होता है, और वाक्य के मध्य अथवा अन्त में प्रयोग होने पर वह अनुदात्त होता है। तदनुसार ही उनके अर्थ की मुख्यता अथवा गौणता व्यक्त होती है।

ये तो हुए लौकिक भाषा में स्वरभेद से अर्थभेद के कतिपय उदाहरण। अब हम वैदिक ग्रन्थों से स्वरभेद से अर्थभेद के उदाहरण देते हैं—

वैदिक भाषा में स्वरभेद से अर्थभेद

ऋग्वेद में एक मन्त्र है—हनो॑ वृ॒त्रं जया॑ अ॒पः (१।८०।३)। इसमें जयाः पद आद्युदात्त है।

अथर्ववेद में दूसरा मन्त्र है—ज॒यो मे॑ स॒व्य आहि॑तः (७।५२ (५०)।८)। इसमें जयः अन्तोदात्त है।

इन दोनों मन्त्रों में प्रयुक्त 'जय' में स्वरभेद होने से निश्चय ही दोनों का एक अर्थ नहीं हो सकता।

आद्युदात्त जयाः पद दो प्रकार से उपपन्न हो सकता है। एक जय-करणम् (अ० ६।१।२०२) सूत्र से करण अर्थ में, दूसरा लेट् लकार के मध्यम पुरुष के एक वचन में।[1] करणवाची अकारान्त जय शब्द के बहुवचन का अर्थ इस मन्त्र में संबद्ध नहीं हो सकता, पारिशेष्य से इसे लेट् लकार का रूप मानना होगा। अतः अर्थ होगा—'[हे इन्द्र तू] अपों (=जलों) को जीत।'

दूसरे मन्त्र में प्रयुक्त अन्तोदात्त जयः पद भावार्थक अच्-प्रत्ययान्त है। अतः इसका अर्थ होगा—'मेरे बाएँ हाथ में जीत रखी हुई है।'

इसी प्रकार अन्यत्र भी स्वरभेद से अर्थभेद समझना चाहिए। इसीलिए वेङ्कट माधव लिखता है—

अर्थाभेदे तु शब्दस्य सर्वत्र सदृशः स्वर।
यदा न तं स्वरं पश्येद् अन्यथार्थं तदानयेत्॥

अर्थात्—अर्थ के समान होने पर शब्द का स्वर सर्वत्र समान होता है। जब कहीं उस समान स्वर को न देखे, तब उस शब्द का अर्थ भी अन्य ही करे।

---

१. शप् के अनुदात्त होने से धातुस्वर होता है। वाक्य के आदि में होने से 'तिङ्ङतिङः' (अ० ८।१।२८) से निघात (=सर्वानुदात्त) नहीं होता॥

वेङ्कट माधव ने अपने ऋग्वेद भाष्य में, विशेषकर वृहद् भाष्य (जो माधव के नाम से अडियार-मद्रास से छपा है) में इस नियम का सर्वत्र पालन किया है। हम उसके कतिपय शब्दों की सूची देते हैं—

शब्द	अर्थ	पृष्ठ
जठरः	अग्निः	४२६, ७३५
जुठरः	उदरवचनः	
यमः	येन गच्छति	५०१
युमः	वैवस्वतः	
सुत्यम्	ऋतार्थे	५२७
सत्यम्	दारिद्र्ये	
ज्येष्ठः	प्रशस्यः	५६९
ज्येष्ठः	वयसा ज्येष्ठः	
सुकृतम्	निष्ठान्तम्	५८३
सुकृतम्	क्विबन्तम्	
सुकृतम्	भावे निष्ठान्तं बहुव्रीहौ	

इस प्रकार हमने स्वरभेद से होने वाले अर्थभेद के कतिपय उदाहरण देकर उदात्त स्वर का शब्दार्थ पर पडने वाले प्रभाव का स्पष्टीकरण कर दिया।

अब अगले अध्याय में संक्षेप से वेदार्थ के विषय में लिखेंगे॥



षष्ठ अध्याय
वेद का अर्थ

उदात्त आदि स्वरों की वेदार्थ में उपयोगिता दर्शाना इस निबन्ध का मुख्य उद्देश्य है। इसलिए वेदार्थ के विषय में कुछ निर्देश करना आवश्यक है। हम यहां अतिसंक्षेप से इस विषय का प्रतिपादन करेंगे। विस्तार से इस विषय पर अन्यत्र लिखा जाएगा।

वेद की महत्ता—भारतीय प्राचीन वाङ्मय में वेद का स्थान सर्वोपरि माना गया है। प्राचीन परम्परा के अनुसार वेद समस्त विद्याओं के आकर ग्रन्थ हैं।[1] आजकल संस्कृत-वाङ्मय में जितने विषयों के ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उनके प्रवक्ता ऋषि, मुनि और आचार्य सबकी एक स्वर से प्रतिज्ञा है कि उनके ग्रन्थों में प्रतिपाद्य विद्याओं का आदिस्रोत वेद हैं।[2] इस प्रतिज्ञा से स्पष्ट है कि प्राचीन संस्कृत-वाङ्मय के अनुसार वेदार्थ का क्षेत्र बहुत विस्तृत है।

वेदार्थ के विभाग—प्राचीन आचार्यों ने वेदार्थ के उक्त महान् क्षेत्र को स्थूलतया दो विभागों में बाँटा है। एक है आधिदैविक, और दूसरा आध्यात्मिक।

प्रथम क्षेत्र—आधिदैविक क्षेत्र स्थूलतया द्युलोक, अन्तरिक्ष लोक और पृथिवी लोक के भेद से त्रिधा विभक्त है। तदनन्तर प्रत्येक लोक में विविध भौतिक तत्त्व विद्यमान हैं, जिनका वेद में वर्णन है। वैदिक परिभाषा में त्रिलोकी के ये भौतिक तत्त्व देव अथवा देवता कहाते हैं।

द्वितीय क्षेत्र—आधिदैविक जगत् के तीनों लोक अध्यात्म = शरीर में भी निहित हैं। इस तत्त्व का निर्देश भगवती श्रुति इस प्रकार करती है—

अन्तस्ते द्यावापृथिवी दधाम्यन्तर्दधाम्युर्वन्तरिक्षम्।
सजूर्देवेभिरवरैः परैश्चान्तर्यामे मघवन् मादयस्व ॥ मा०सं० ७।५

---

१. 'सर्वज्ञानमयो हि सः'। मनु० २।७ (द्र० मेधातिथि की व्याख्या)। 'वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है', (स्वामी दयानन्द सरस्वती)। महाभारत (अनु० १२२।४) में लिखा है—'यानीहागमशास्त्राणि याश्च काश्चित् प्रवृत्तयः। तानि वेदं पुरस्कृत्य प्रवृत्तानि यथाक्रमम् ॥'

२ इस विषय के विस्तार के लिए देखिए हमारा 'वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं का ऐतिहासिक अनुशीलन' नामक निबन्ध पृष्ठ ४, ५।

अर्थात्—भीतर तुम्हारे द्युलोक और पृथिवीलोक को स्थापित करता हूँ, भीतर स्थापित करता हूँ विस्तृत अन्तरिक्ष लोक को। साथ देवों के अवरों और परों[1] के [इस] अन्तर्यामी द्युलोकरूपी[2] [ग्रह] पात्र में हे मघवन् (इन्द्र = जीव) हर्षित हो।

यद् ब्रह्माण्डे तत्पिण्डे—वेद द्वारा प्रतिपादित उपर्युक्त तथ्य का निर्देश प्राचीन तत्त्वदर्शी मनीषियों ने 'यद्ब्रह्माण्डे तत् पिण्डे' सूत्र द्वारा किया है। इस मानुष पिण्ड में शिरोभाग द्युलोक, नाभिपर्यन्त भाग अन्तरिक्ष लोक और उससे नीचे का भाग पृथिवीलोकस्थानीय है।

वेद में प्रधानतया इन्हीं आधिदैविक तथा आध्यात्मिक क्षेत्र के विभिन्न विभागों में निहित देवताओं का वैज्ञानिक वर्णन है।

वैदिक देवताओं का विभाग—वेद में जिन आधिदैविक तथा आध्यात्मिक तत्त्वों का प्रतिपादन है, उन्हें वैदिक परिभाषा में देव अथवा देवता कहते हैं।[3] उन में ग्यारह देवता प्रधान हैं। इन्हें रुद्र भी कहा जाता है। इनके व्याकुलित होने अथवा अपने अपने क्षेत्र से निकल जाने पर, न केवल वही क्षेत्र, अपितु समष्टिरूप से सम्पूर्ण आधिदैविक अथवा आध्यात्मिक जगत् डाँवाडोल हो उठता है। कभी कभी उसकी स्थिति भी संशयास्पद हो जाती है। अत एव इन ग्यारह प्रधान देवों को वैदिक परिभाषा में रुद्र कहते हैं।[4]

---

१. ये 'पर' और 'अवर' देव शरीर में ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ हैं। इन्हीं पर और अवर देवों को ऋ० १।१।२ में पूर्व और नूतन ऋषि कहा है। वैदिक वाङ्मय में ऋषि शब्द इन्द्रियों के लिए बहुधा प्रयुक्त है। यथा अथर्व० १०।८।९, बृ० उ० २।२।३॥

२. असौ (द्यौः) एवान्तर्यामः। शत० ४।१।२।२७॥ यज्ञ में अन्तर्याम एक सोमपात्र की संज्ञा है। अध्यात्म में यह अन्तर्याम पात्र मस्तिष्क का वह भाग है, जिसमें सोम = मस्तु जल भरा हुआ है। वहीं इन्द्र = जीव का निवास-स्थान है। उसी के चारों ओर ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के मूल स्थान हैं। वहीं इन्द्र देवों के साथ सोम का पान करता है। देखिए हमारा 'वेद प्रतिपादित आत्मा का शरीर में निवासस्थान' लेख, सरस्वती (लखनऊ) मई १९५६ के अङ्क में।

३. या तेनोच्यते सा देवता ऋक्सर्वा० २।५॥ यो देवः सा देवता। निरुक्त ७।१४॥

४. यद्रोदयन्ति तस्माद् रुद्राः। शत० ११।६।३।७॥

देवों का त्रिवृत्त्व—वेदों में जिन देवों का वर्णन है, वे आधिदैविक और आध्यात्मिक जगत् के पूर्वोक्त तीनों क्षेत्रों में त्रिधारूप से विद्यमान हैं। इसीलिए देवों को त्रिवृत् कहा जाता है।[1] ऋग्वेद १।१३९ के ११ वें मन्त्र में ग्यारह प्रधान देवों का त्रिवृत्त्व (तीनों लोकों में रहना) स्पष्ट दर्शाया है। यथा—

ते देवासो दिव्येकादश स्थ पृथिव्यामध्येकादश स्थ।
अप्सुक्षितो महिनैकादश स्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम्॥

अर्थात्—जो देव द्युलोक में ग्यारह हैं, पृथिवी लोक में ग्यारह हैं और अन्तरिक्ष लोक में निवास करने वाले अपनी महिमा से ग्यारह हैं, वे देव इस यज्ञ[2] का सेवन करें।[3]

ब्राह्मण ग्रन्थों में कतिपय देवों का त्रिवृत्त्व (=तीनों लोकों में निवास करना) स्पष्ट शब्दों में उल्लिखित है। यथा—

वायु का त्रिवृत्त्व—शतपथ ८।४।१।९ में लिखा है—

वायुर्वा आशुस्त्रिवृत्। स एषु त्रिषु लोकेषु वर्तते।

अर्थात्—वायु ही शीघ्रगामी त्रिवृत् है, वह इन तीनों लोकों में रहता है।

अग्नि का त्रिवृत्त्व—तैत्तिरीय ब्राह्मण १।५।१०।४ में कहा है—

अग्निर्वै त्रिवृत्।

अर्थात्—अग्नि निश्चय से त्रिवृत् है।

---

१. त्रिवृत् यस्त्रेधा वर्तते। स्वामी दयानन्द सरस्वती, यजुर्वेद भाष्य १०।१५॥ तथा इसी प्रकरण का अगला भाग।

२. यज्ञ से यहाँ द्रव्यमय आहुत्यात्मक यज्ञ अभिप्रेत नहीं है। क्योंकि यज्ञों की उत्पत्ति वेद-प्रादुर्भाव के बहुत पश्चात् त्रेता के आरम्भ में हुई है। इसलिए वेद में जहाँ भी यज्ञ शब्द का व्यवहार मिलता है। वह आधिदैविक अर्थ में ब्रह्माण्ड तथा अध्यात्मपक्ष में पिण्ड का वाचक है। इन्हीं ब्रह्माण्ड और पिण्ड (शरीर) में निरन्तर होने वाले यज्ञों को समझाने के लिए ऋषियों ने द्रव्यमय यज्ञों की कल्पना की है। देखिए हमारा 'वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं का ऐतिहासिक अनुशीलन' नामक निबन्ध।

३ इन तीनों लोकों के ग्यारह ग्यारह देवों की पृथक् पृथक् गणना करने पर ११ × ३ = ३३ संख्या होती है। ये ही मूल वैदिक ३३ देव हैं। शतपथ १४।६।९।३-६ में कहे गए १२ आदित्य, ११ रुद्र, और ८ वसु ये तैंतीस देव वेदानुसारी नहीं हैं। उपर्युक्त मन्त्र में कहे गए ग्यारह देव कौन से हैं, यह हमें अभी ज्ञात नहीं हुआ।

ऋग्वेद १०।८८।१० में अग्नि का त्रिवृत्त्व अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में दर्शाया है। मन्त्र है—

तमू अकृण्वन् त्रेधा भुवेकम्।

यास्क ने इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए लिखा है—

तमकुर्वंस्त्रेधाभावाय। पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः निरु० ।७।२८।।

अर्थात्—उस [अग्नि] को किया तीन प्रकार से होने के लिए, पृथिवी में, अन्तरिक्ष में और द्युलोक में। यह शाकपूणि आचार्य का मत है।

बृहद्देवता १।६५ में आचार्य शौनक का कथन है—

अग्निभूतं स्थितं त्रिधा।

अर्थात्—अग्नि बन कर ठहरा तीन प्रकार से।

देवों के त्रिवृत्त्व के कतिपय उदाहरण—अब हम देवों के त्रिवृत्त्व के स्पष्टीकरण के लिए कतिपय उदाहरण देते हैं। यथा—

१—वैश्वानर अग्नि—वेद के शतशः मन्त्रों में वैश्वानर संज्ञक अग्नि देव का वर्णन मिलता है। वेद की वैज्ञानिक परिभाषा के अनुसार वैश्वानर उस अग्नि का नाम है जिसमें ताप (उष्णता) तो हो, परन्तु ज्वाला न हो। जैमिनीय ब्राह्मण में इस परिभाषा का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है—

अथ ह वा अग्निर्वैश्वानर इत्थमेवास, यथेमे अङ्गाराः।

जै० ब्रा० ३।१६५।।

अर्थात्—निश्चय ही अग्नि वैश्वानर इसी प्रकार का था, जैसे ये अङ्गारे।

अङ्गारों में ताप होता है, परन्तु उनमें ज्वाला नहीं होती, यह सर्वलोक-विदित है।

आधिदैविक जगत् में वैश्वानर—यह वैश्वानर अग्नि द्युलोक में सूर्य रूप से विद्यमान है,[1] अन्तरिक्ष में विद्युद् रूप से[2] और पृथिवी में भूगर्भस्थ ताप रूप में।[3]

अध्यात्म में वैश्वानर—यही वैश्वानर अग्नि अध्यात्म में द्युलोक स्थानीय

---

१. एष वा अग्निर्वैश्वानरो यदसावादित्यः। मै० सं० १।६।६।। असौ (वैश्वानरः) आदित्य इति पूर्वे याज्ञिकाः। निरुक्त ७।२३।। स्तुतो वैश्वानरो दिवि। बृहद्देवता १।६७।।

२. तत्को वैश्वानरः ? मध्यम इत्याचार्याः निरुक्त ७।२२।।

३. वैश्वानरं बिभ्रती भूमिरग्निम्। अथर्व० १२।१।८।।

मस्तिष्कान्तर्गत नीचे मुँह और ऊपर बन्धन वाले चमस[1] कूप में पतित है।[2] जब वह मेघा द्वारा सासारिक विषयों से तर जाता है (= पार हो जाता है), तब उसे ब्रह्म (= अपना अथवा परब्रह्म) का ज्ञान होता है। ऋग्वेद १।१०५ में इसी त्रित (= इन्द्र = जीव) की सासारिक दुःखमयी दशा का करुणामय वर्णन है। इसीलिए निरुक्तकार यास्क ने इस सूक्त की ९वीं ऋचा[3] का व्याख्यान करने के अनन्तर लिखा है—

त्रित कूपेऽवहितमेतत् सूक्त प्रतिबभौ।··· ··त्रितस्तीर्णतमो मेधया। निरुक्त ४।६॥

४-सप्तसिन्धु-सात नदियाँ—ऋग्वेद १०।७५ के प्रसिद्ध नदीसूक्त के प्रथम मन्त्र में सप्तसिन्धुओं (= सात नदियों) का त्रिविधत्व (= त्रिस्थानित्व) का प्रतिपादन अत्यन्त विस्पष्ट शब्दों में किया है। वहाँ लिखा है—

प्र सप्तसप्त त्रेधा हि चक्रमु·।

अर्थात्—सात सात नदियाँ [स्थान भेद से] तीन प्रकार से गतियाँ करती हैं।

सप्त सिन्धुओं के नाम—इन सात सिन्धुओं अथवा सात नदियों के नाम इसी सूक्त में लिखे हैं।[4] वे हैं—सिन्धु, गङ्गा, यमुना, सरस्वती, शुतुद्री, मरुद्वृधा और आर्जीकीया। इन्हें ऋग्वेद २।१२।१२ में स्पष्ट शब्दों में सप्तसिन्धु कहा है।

नदियों के त्रिविधत्व का कारण—वेद में नदियों की उत्पत्ति इन्द्र से कही है।[5] यह इन्द्र आधिदैविक जगत् के तीनों लोकों में भिन्न भिन्न रूप से विद्यमान है। अत· तीन प्रकार के इन्द्रों से उत्पन्न होने वाली नदियाँ भी तीन प्रकार की हैं। इसीलिए ऋ० १०।७५।१ में इन नदियों के लिए त्रेधा पद का निर्देश किया है। इसी प्रकार अध्यात्म में भी त्रिविध इन्द्र से प्रसृत होने वाली आध्यात्मिक नदियाँ भी तीन प्रकार की हैं।

---

१ अर्वागबिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः। बृह० उप० २।२।३॥ तुलना करो अथर्व १०।८।९॥

२. त्रितः कूपेऽवहितो देवान् हवत ऊतये। ऋ० १।१०५।१७॥

३. टिप्पणी २ में उद्धृत मन्त्र।

४ इस सूक्त की व्याख्या में श्री० स्वामी आत्मानन्द जी ने २१ प्रकार की नदियों का वर्णन माना है। देखिए 'वेद वाणी' (काशी) कार्तिक स० २००९ में 'ऋग्वेद का एक नदी सूक्त' लेख।

५. इन्द्रो अस्माँ अरदद् वज्रबाहु। ऋ० २।२२।६॥

आधिदैविक त्रिविध सात नदियाँ—द्युस्थानीय इन्द्र सूर्य है, यह पूर्व कहा जा चुका है। उससे उत्पन्न होनेवाली सात नदियाँ सात प्रकार की रश्मियाँ हैं। अन्तरिक्ष लोक में विद्यमान इन्द्र = विद्युत् के तारतम्य से विभक्त सप्तविध मेघ[1] अन्तरिक्षस्थानीय सात नदियाँ हैं।[2] ऋग्वेद २।१२।१२ में इन्द्र के लिए प्रयुक्त सप्तरश्मि पद की व्याख्या में सायण ने तैत्तिरीय आरण्यक के प्रमाण से सप्तविध मेघों का वर्णन किया है। पृथिवी लोक में विद्यमान अग्नि और उसके सखा सोम के तारतम्य (= न्यूनाधिक संसर्ग) से युक्त सात प्रकार के जल वाली सप्तविध नदियाँ हैं। महान् वैज्ञानिक ऋषियों ने किन किन गुणों से युक्त जल वाली नदियों के सिन्धु, गङ्गा, यमुना आदि नाम रखे, यह महान् अनुसन्धान का विषय है।

गाङ्ग जल—भारत की प्रसिद्ध गङ्गा नामक नदी के जल की यह विशेषता है कि वह चाहे कितने ही काल तक बन्द पड़ा रहे, बिगड़ता नहीं। शल्य-तन्त्रकार आचार्य धन्वन्तरि ने सुश्रुत सूत्रस्थान अ० ४५।३ में आकाश से आश्विन मास में बरसने वाले जल के दो भेद दर्शाए हैं, गाङ्ग जल और सामुद्र जल।[3] भाव प्रकाश निघण्टु वारिवर्ग में लिखा है कि गाङ्ग जल आकाश गङ्गा से संबन्ध रखता है।[4] यह जल अत्यन्त ऊँचे बादलों से बरसता है। वहाँ तक पार्थिव जल के सूक्ष्मतम रूप में पहुँचते पहुँचते पार्थिव विकार सर्वथा नष्ट हो जाते हैं। सूर्य की सुषुम्णा संज्ञक विशिष्ट किरणों के योग से उनमें सोमका विशेष संयोग हो जाता है।[5] वर्षा के द्वारा वह सोम पृथिवी पर पहुँच-

---

१. वराहवः स्वतपसो विद्युन्महसो धूपयः स्वापयो गृहमेधाश्चेत्येते पर्जन्याः सप्त पृथिवीमभिवर्षन्ति। तै० आर० १।९।४, ५॥ वराह अथवा वराहु संज्ञक मेघ के विशेष वर्णन के लिए देखिए 'वेदवाणी' कार्तिक सं० २०१३ के अंक में श्री पं० भगवद्दत्त जी का 'वैदिक वराह का वैज्ञानिक स्वरूप' लेख।

२. य सप्तरश्मिर्वृषभस्तुविष्मानवासृजत् सर्तवे सप्तसिन्धून्। ऋ० २।१२।१२

३. तेषां धारं प्रधान लघुत्वात्। तत्पुनर्द्विविधम्—गाङ्गं सामुद्रं चेति।

४. धाराजलं द्विविधं गाङ्गसामुद्रभेदतः। आकाशगङ्गासंबन्धि जलमादाय दिग्गजः॥ गाङ्गमाश्वयुजे मासि प्रायो वर्षति वारिदः। सर्वथा तज्जलं देयं तथैव चरके वचः॥

५. निरुक्त २।६ में कहा गया है—अस्यैको रश्मिश्चन्द्रमसं प्रति दीप्यते··· सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः (माध्य० यजु० १८।४०) इसी सुषुम्णा रश्मि के द्वारा चन्द्रमा में सोम का आधान होता है और वह सौम्य गुण की प्रधानता से स्वयं सोमरूप हो जाता है। शरीर द्युस्थान मस्तिष्क में विद्यमान

उल्कुषी[1] कहाती है। ऋग्वेद १।१६४।२९ में अन्तरिक्षस्थ अग्नि के शब्द, भय और प्रकाश ये तीन कार्य कहे हैं।[2]

द्युलोकस्थ अग्नि का त्रिधृत्त्व—द्युलोक में अग्नि सूर्य रूप में विद्यमान है। सूर्य के भी तीन रूप हैं, प्रकाशक मण्डल, कृष्णमण्डल और किरणें। सूर्य के चारों ओर का मण्डल प्रकाशक है, उसके मध्य का भाग काला है। विक्रम से तीन सहस्र वर्ष पूर्वभावी महामुनि जैमिनि ने अपने ब्राह्मण में लिखा है—

असावेव संवत्सरो योऽसौ तपति। तस्य यद् भाति तत् संवत्, यन्मध्ये कृष्ण मण्डलं तत्सर इति जै० ब्रा० २।२८॥

अर्थात्—वही सवत्सर है जो तप रहा है। उसका जो भाग चमकता है वह संवत् है और जो मध्य में कृष्ण मण्डल है वह सर है।

पाश्चात्य वैज्ञानिकों का वृथाभिमान—आधुनिक पाश्चात्य वैज्ञानिक और उनके अनुयायी समझते हैं कि विज्ञान में हमने जितनी उन्नति की है और कर रहे हैं, वह अभूतपूर्व है। परन्तु सत्य इतिहास से अनुमोदित तत्त्व यह है कि प्राचीन ऋषियों, देवों और असुरों की भौतिक विज्ञान में जहाँ तक पहुँच थी, उसका शतांश भी अभी आधुनिक वैज्ञानिक नहीं जान पाए। सूर्य के चारों ओर का भाग प्रकाशक है मध्य में कालेकाले धब्बे हैं, एक स्थान पर स्थिर नहीं रहते—यह तथ्य पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने कुछ काल पूर्व ही जाना है। परन्तु भारत के महान् ऋषि जैमिनि ने आज से ५००० पाच सहस्र वर्ष पूर्व इन तीनों तथ्यों का स्पष्ट शब्दों में उल्लेख किया है। सूर्य के काले धब्बे गतिशील हैं, वे एक स्थान पर स्थिर नहीं रहते, इस तत्त्व का प्रतिपादन उनके लिए प्रयुक्त 'सर' शब्द कर रहा है। 'सर' गत्यर्थक 'सृ' धातु से निष्पन्न होता है।

वेद में सूर्य के लिए कृष्ण शब्द का बहुधा प्रयोग उपलब्ध होता है, वह इसके कृष्णवर्ण वाले धब्बों के ही कारण है। भारतीय प्राचीन वैदिक ग्रन्थों में ऐसे वैज्ञानिक सकेत भरे पड़े हैं। आवश्यकता है उनके अनुसन्धान की।[3]

---

१. उल्कुषी शब्द की निष्पत्ति वैयाकरण 'उल्मुक' के समान 'उष दाहे' से मानते हैं॥

२ 'अयं स शिङ्क्ते येन गौरभीवृता मिमाति मायुं ध्वंसनावधि श्रिता। सा चित्तिभिर्नि हि चकार मर्त्यं विद्युद् भवन्ती प्रति वव्रिमौहत'। इस मन्त्र की निरुक्त २।९ में यास्कीय व्याख्या भी द्रष्टव्य है॥

३ इस विषय पर श्री प० भगवद्दत्त जी का 'वेदविद्यानिदर्शन' नाम का महत्काय ग्रन्थ छप रहा है॥

इस संक्षिप्त निर्देश से स्पष्ट है कि वेद परमगहन विज्ञान का प्रतिपादक ग्रन्थ है, उसमें प्रत्येक व्यक्ति का प्रवेश असम्भव है। विविध-शास्त्र-ज्ञान-सपन्न साधनानिरत, चिन्तनशील, अनूचान का ही उसमें प्रवेश सम्भव है। आजकल के वेदभाष्यकारों का ज्ञान इतना ही है जितना लोगों से झूठी सच्ची सुनी सुनाई बातों से किसी अदृष्ट देश वा नगर का हो सकता है।

वेदार्थ का तृतीय क्षेत्र

हम ऊपर प्रमाणित कर चुके हैं कि वेदार्थ का क्षेत्र आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् है। परन्तु कालान्तर में इनके साथ वेदार्थ का एक गौणक्षेत्र यज्ञ भी सम्मिलित हो गया। मनुष्यों की बुद्धि का ह्रास देख कर ऋषियों ने त्रेता युग के आरम्भ में आधिदैविक तथा आध्यात्मिक अतीन्द्रिय सूक्ष्म रहस्यों को समझाने के लिए अग्निहोत्र दर्शपौर्णमास आदि विविध श्रौतयज्ञों[1] की प्रकल्पना की।[2] इसलिए आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् के वर्णन करने वाले मन्त्रों का एक स्थूल अर्थ यज्ञपरक भी माना गया। इसीलिए यास्क ने निरुक्त १।२० में याज्ञिक अर्थ को पुष्पस्थानीय कहा है।[3] उत्तर काल में वेद के वास्तविक आधिदैविक तथा आध्यात्मिक अर्थ लुप्त हो गए और गौण याज्ञिक अर्थ ही प्रधान बन गया।[4] वैदिकों ने स्पष्ट घोषणा कर दी कि वेद यज्ञ के लिए प्रवृत्त हुए हैं।[5] इस कारण विविध विज्ञान और अध्यात्मज्ञान

---

१. यतः श्रुति में आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् का वर्णन है, अतः उनके आधार पर आरम्भ में जिन यज्ञों की कल्पना की गई, वे श्रौतयज्ञ कहाए। उत्तरकाल में अनेक ऐसे श्रौत नामधारी यज्ञ भी कल्पित किए गए, जिनका श्रुति-प्रतिपादित आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् से कोई सबन्ध नहीं। श्रौत यज्ञान्तर्गत मानी गई काम्येष्टियां ऐसी ही हैं। गृह्य तथा धर्मसूत्रों में उल्लिखित यज्ञ स्मार्त कहाते हैं। उनका श्रुति से साक्षात् सबन्ध याज्ञिक भी नहीं मानते हैं॥

२. श्रौत यज्ञों की कल्पना कब और किस लिए हुई, उनमें उत्तरोत्तर किस प्रकार परिवर्तन हुए इन सब विषयों को विस्तार से जानने के लिए हमारा 'वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं का ऐतिहासिक अनुशीलन' निबन्ध देखना चाहिए॥

३. याज्ञदैवते पुष्पफले देवताध्यात्मे वा॥

४. ब्राह्मण ग्रन्थ जो वेद के व्याख्यान के लिए मुख्यतया प्रवृत्त हुए, उनमें वेद का याज्ञिक अर्थ ही दर्शाया है॥

५. वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः। वेदाङ्ग ज्योतिष के अन्त में॥

के आकर ग्रन्थ वेद केवल कर्मकाण्ड के ग्रन्थ माने जाने लगे।[1] इसीलिए प्राचीन परम्परा के अनुसार वेद का अन्तिम लक्ष्य अध्यात्म ज्ञान होने पर भी इन्हें पराविद्या से बहिष्कृत करके अपराविद्या में डाल दिया गया।[2] कर्मकाण्डियों के एक वर्ग ने तो वेद को अनर्थक (अर्थ-रहित) ही कहना आरम्भ कर दिया।[3] इस सब का प्रभाव यह हुआ कि वेद का मुख्य अभिप्राय लुप्त हो गया। वेदानुयायियों में भी वेद हीनता की दृष्टि से देखे जाने लगे।[4]

मन्त्रों का यज्ञकर्म के साथ काल्पनिक गठबन्धन—हमारी पूर्व-मीमांसा से स्पष्ट है कि मन्त्रों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् है। यज्ञों की उत्पत्ति आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् के अतीन्द्रिय ज्ञान = रहस्य समझाने के लिए हुई है। इसलिए आधिदैविक और आध्यात्मिक जगत् के प्रतिनिधिभूत कर्मकाण्ड में मन्त्रों का जो विनियोग किया गया, वह उसी प्रकार काल्पनिक है जैसे रामचरित-निदर्शन के लिए रची गई रामायण की चौपाइयों का रामलीला के पात्रों द्वारा प्रयोग करना।

याज्ञिक आधिदैविक और आध्यात्मिक अर्थों का तारतम्य—यत यज्ञों की कल्पना आधिदैविक जगत् के सूक्ष्म तथा अतीन्द्रिय रचना का ज्ञान कराने के लिए हुई थी, अतः यज्ञों के परार्थ होने के कारण याज्ञिक अर्थ गौण हैं, आधिदैविक अर्थ मुख्य हैं। आधिदैविक तथा आध्यात्मिक अर्थों की तुलना में आधिदैविक गौण हैं, आध्यात्मिक मुख्य। क्योंकि वह ब्रह्माण्ड की रचना के द्वारा उससे भी परम सूक्ष्म पिण्ड = शरीर की रचना का ज्ञान कराता है। इसलिए आधिदैविक अर्थ की अपेक्षा वेद का आध्यात्मिक तात्पर्य मुख्य है।

उक्त गौण-प्रधानभाव में यास्क का मत—वेद के उक्त तीन प्रकार के अर्थों में हमने जो गौण-प्रधानभाव दर्शाया है, वही आचार्य यास्क को भी सम्मत है। यास्क ऋग्वेद के 'वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्' (ऋ० १०।७१।५) की व्याख्या करता हुआ लिखता है—

याज्ञदैवते पुष्पफले, देवताध्यात्मे वा। निरुक्त १।२०॥

---

१. आम्नायस्य क्रियार्थत्वात् आनर्थक्यमतदर्थानाम्। मीमांसा १।२।१॥

२. तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरण निरुक्त छन्दो ज्योतिषम् इति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते। मुण्डक १।५॥

३ निरुक्त १।१५ में मन्त्रों को अनर्थक बताने हारे महायाज्ञिक कौत्स का मत उद्धृत किया है। जैमिनीय मीमांसा अ० १ पाद २ में मन्त्रानर्थक्य-वाद की मीमांसा की है।

४. वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः। गीता २।४२ ॥

अर्थात्—वेद के याज्ञिक और आधिदैविक अर्थों में याज्ञिक अर्थ पुष्पस्थानीय है और आधिदैविक फलस्थानीय। इसी प्रकार आधिदैविक तथा आध्यात्मिक अर्थों में दैवत अर्थ पुष्पस्थानीय है और आध्यात्मिक फलस्थानीय।

यह लोकप्रसिद्ध है कि जो पुष्पोद्‌गम फल के लिए होता है, वह फल की अपेक्षा गौण होता है, और फल मुख्य। इसलिए यास्क का भी यही मत है कि वेद का याज्ञिक अर्थ अतिस्थूल अर्थात् गौण है। आधिदैविक अर्थ प्रधान है। परन्तु आध्यात्मिक अर्थ की तुलना में आधिदैविक अर्थ भी गौण है। अर्थात् अध्यात्म ज्ञान वेद का सर्वोपरि लक्ष्य है।[1]

वेद का मुख्यतर प्रतिपाद्य विषय अध्यात्म है। इस सिद्धांत का स्पष्टीकरण कठश्रुति में इस प्रकार किया है—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति। २।१५॥

अर्थात्—सम्पूर्ण वेद जिस पद (प्राप्तव्यतत्त्व) का बार बार निर्देश करते हैं······वह ओम् है।

इसी कठश्रुति की प्रतिध्वनि गीता १५।१५ के

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।

वचन में सुनाई पडती है।[2]

उपसंहार

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचना से स्पष्ट है कि वेद का मुख्य प्रतिपाद्य विषय आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् के परम सूक्ष्म से लेकर परम महत् परिमाण पर्यन्त विविध तत्त्वों के गुणों तथा कर्मों का वैज्ञानिक वर्णन करना है। इसीलिए महर्षि कणाद ने तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् (वैशेषिक १।१।३) सूत्र द्वारा वेद का प्रामाण्य उसके वैज्ञानिक वर्णन के आधार पर ही स्वीकार किया है।[3] मन्त्रों का याज्ञिक अर्थ तो ऊपर से जोड़ा गया है, उसका वेद के साथ साक्षात् कोई सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि भारतीय इतिहास में सर्वसम्मत

१. देखिए—अध्यात्मविद्या विद्यानाम्। गीता १०।३२॥

२. इसकी विशेष विवेचना हमारे 'वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं का ऐतिहासिक अनुशीलन' निबन्ध में पृष्ठ १६–१८ तक देखें॥

३. इसकी विशेष विवेचना के लिए हमारे 'वे० की वि० प्र० का ऐ० अनुशीलन' निबन्ध पृष्ठ २–५ तक देखें॥

तथ्य है कि यज्ञों का आरम्भ त्रेतायुग के आरम्भ में हुआ और वेद उससे पूर्व सृष्ट्यारम्भ से विद्यमान हैं। अतः पूर्वभावी वेद में पश्चाद्भावी यज्ञों का विधान हो ही कैसे सकता है। इसलिए वेद के जिन मन्त्रों में यज्ञ, इष्टि, क्रतु आदि शब्दों का निर्देश है, उनमें भी त्रेतायुग में प्रारम्भ किए गए द्रव्यमय यज्ञों का वर्णन नहीं है। वहां आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् में होने वाले यज्ञों का ही वर्णन है।

इस प्रकार वेदार्थ के विषय में अति संक्षेप से कुछ संकेत करके अगले अध्याय में 'वेदार्थ में स्वरों का उपयोग और प्राचीन आचार्य' विषय पर लिखेंगे॥



सप्तम अध्याय

वेदार्थ में स्वरों का उपयोग और प्राचीन आचार्य

गम्भीरतम वेदार्थ-ज्ञान के साधन—वेद के पूर्वप्रदर्शित गम्भीरतम अभिप्राय को समझने के लिए प्राचीन ऋषियों ने सुदृढ़ होकर अनेकविध शास्त्रों का प्रवचन किया।[1] उनमें शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त, छन्द[2], ज्योतिष और कल्प ये ६ शास्त्र प्रधान हैं। जिस प्रकार शरीर के हस्त, पाद आदि अङ्ग शरीर के उपकारक हैं, उसी प्रकार उक्त ६ शास्त्र भी वेद के साक्षात् उपकारक हैं।[3] इसलिए इन्हें वेदाङ्ग कहते हैं। इन वेदाङ्गों में भी प्रधानतम व्याकरण माना गया है।[4]

---

१. (क) बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च निरुक्त १।२०॥

(ख) अतिगम्भीरस्य वेदस्यार्थमवबोधयितुं शिक्षादीनि षडङ्गानि प्रवृत्तानि। सायण, ऋग्भाष्योपोद्घात में षडङ्ग प्रकरण के आदि में॥

२. वेद के अनेक भाष्यकार छन्द शास्त्र को वेदार्थ में उपयोगी नहीं मानते (न छन्दः, अनुपयुज्यमानत्वात्, स्कन्द ऋग्भाष्य के आरम्भ में)। परन्तु यह महान् अज्ञान है। छन्दोज्ञान भी वेदार्थ में परम उपयोगी है। उसके उपयोग को न जानने से प्राय सभी वेदभाष्यकार गौण अर्थ को प्रधान और प्रधान अर्थ को गौण बना देते हैं। छन्दः शास्त्र तो वेदार्थरूपी महाप्रसाद का पादस्थानीय (=नींववत्) है। उसी के आधार पर वेदार्थ का सारा प्रासाद स्थिर हो सकता है। इस सूक्ष्म विषय का विवेचन हमने 'छन्दः शास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ के 'छन्दः शास्त्र की वेदार्थ में उपयोगिता' अध्याय में किया है, (यह ग्रन्थ शीघ्र छपेगा)॥

३. एतेषां च वेदार्थोपकारिणां षण्णां ग्रन्थानां वेदाङ्गत्वं शिक्षायामेवमुदीरितम्—'छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते। ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते। शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्। तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते' (ऋक्शाखीय पाणिनीय शिक्षा ४१,४२)॥ सायण, ऋग्भाष्योपोद्घात के षडङ्गप्रकरण के अन्त में॥

४. प्रधानं च षट्स्वङ्गेषु व्याकरणम्। महाभाष्य १।१। आ० १॥

होता, परन्तु यहाँ अहीन शब्द मध्योदात्त है।[1] इसलिए द्वादशाहीनस्य वाक्य में बारह उपसद् यागों का विधान प्रकरण को बाध कर अहीन संज्ञक क्रतु विशेष के लिए मानना चाहिए—

५. वेदविदों में अलकारभूत[2] महाविद्वान् भर्तृहरि अनेकार्थक शब्दों के अर्थ-नियमन के लिए अनेकविध हेतुओं का उल्लेख करता है—

सामर्थ्यमौचितिर्देश कालो व्यक्ति. स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतव.॥[3]

अर्थात्—शब्दार्थ के निश्चय न होने पर स्वर=उदात्त आदि विशेष अर्थ के ज्ञापक होते हैं।

इस कारिका की व्याख्या करना हुआ पुण्यराज पहले महाभाष्य के पूर्व-निर्दिष्ट 'स्थूलपृषती' शब्द का उदाहरण देता है। तदनन्तर वैपाशः कूप उदाहरण देकर बताता है कि यदि वैपाश शब्द आद्युदात्त है तो उससे विपाट्= व्यास नदी के उत्तर तटवर्ती कूपों की प्रतीति होगी, यदि अन्तोदात्त है तो उससे विपरीत व्यास के दक्षिण तटवर्ती कूपों का बोध होगा।[4]

पुण्यराज के उदाहरण का पाठ भ्रष्ट प्रतीत होता है। पाणिनि के उदक् च विपाशः (अष्टा० ४।२।७४) सूत्र के अनुसार विपाट्=व्यास नदी के उत्तर तट पर दत्त, गुप्त आदि द्वारा निर्मित कूप आद्युदात्त-स्वर-विशिष्ट दात्त, गौप्त कहाते हैं और दक्षिण तट पर निर्मित कूप अन्तोदात्त-स्वर-विशिष्ट दात्त गौप्त शब्दों से व्यवहृत होते हैं। ये ऐसे प्रयोग हैं, जिन्हें व्यास नदी के दोनों तटों

---

१ वैयाकरणों के मतानुसार क्रतुवाची मध्योदात्त अहीन शब्द 'अह्न. ख. क्रतौ' वार्तिक ४।२।४२ से क्रतुविशिष्टसमूह अर्थ में 'ख' प्रत्यय, 'ख' को 'ईन' आदेश (७।१।२), 'अह्नष्टखोरेव' (अष्टा० ६।४।१४५) से 'अन्' भाग का लोप, तथा प्रत्यय स्वर होकर निष्पन्न होता है॥

२ वेदविरोधी प्रसिद्ध जैन ग्रन्थकार वर्धमानसूरी भर्तृहरि की विद्वत्ता के विषय में लिखता है—यस्त्वय वेदविदामलंकारभूतो वेदाङ्गत्वात् प्रमाणित-शब्दशास्त्र ˙˙। गणरत्नमहोदधि पृष्ठ १२३।

३. यह कारिका वाक्यपदीय के काशी सस्करण में २।३१७ से आगे उपलब्ध नहीं होती। पुण्यराज की टीका में पृष्ठ २१६ पं० १६ से आगे इस कारिका का व्याख्यान उपलब्ध होता है। इससे स्पष्ट है कि संशोधन के प्रमाद से यह कारिका छपने से रह गई॥

४. पुण्यराज की टीका पृष्ठ २१७॥

के जनसाधारण सदा व्यवहार में लाते थे। तथा वे आद्युदात्त और अन्तोदात्त स्वरों के योग से विशिष्ट अर्थ (उत्तर अथवा दक्षिण के कूप) को समझते थे। इससे यह भी स्पष्ट है कि पाणिनि के काल में बोलचाल की संस्कृत भाषा में उदात्त आदि स्वरों का उच्चारण कुछ सीमा तक सुरक्षित था।

६. साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ लौकिक साहित्य में स्वरशास्त्र की अनुपयोगिता का प्रतिपादन करता हुआ वेदार्थ में स्वर की उपयोगिता को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार करता है। वह लिखता है—

स्वरस्तु वेद एव विशेषप्रतीतिकृत्। साहित्य दर्पण परि० ३।

अर्थात्—स्वर वेद में ही विशेष अर्थ का बोधक होता है।

७. कलिकाल में विलुप्त वेदविद्या के पुनरुद्धारक असाधारण-प्रतिभा-संपन्न दीर्घदर्शी महान् तत्त्ववेत्ता स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी अपनी ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका में लिखा है—

वेदार्थोपयोगितया संक्षेपतः स्वराणां व्यवस्था लिख्यते। पृष्ठ ३७४ संस्करण ३।

अर्थात्—वेदार्थ में उपयोगी होने से स्वरों की व्याख्या संक्षेप से लिखते हैं।

प्राचीन आचार्यों के उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि वैदिक तथा लौकिक उभयविध वाङ्मय के सभी आचार्य एक स्वर से वेदार्थ में स्वरों की उपयोगिता को स्वीकार करते हैं। इस परमोपयोगी शास्त्र का वे ही लोग अनादर करते हैं जो शास्त्रविमुख और उच्छृंखल हो कर वेदमन्त्रों के अभिप्राय प्रकट करने की धृष्टता करते हैं। इसलिए "स्वरशास्त्र के ज्ञान से वेदार्थ में कितनी महत्त्वपूर्ण सहायता प्राप्त होती है और उसकी उपेक्षा के क्या भयङ्कर परिणाम होते हैं" इसकी विवेचना अगले अध्याय में की जाएगी॥



अष्टम अध्याय

वेदार्थ में स्वर की विशेष सहायता और उसकी उपेक्षा के दुष्परिणाम

संस्कृत भाषा में ऐसे शब्द अतिस्वल्प हैं जो एक ही अर्थ के वाचक हैं। अधिकांश शब्द प्रायः अनेकार्थक हैं। वैदिक शब्द[1] तो कोई विरला ही ऐसा होगा जो अनेकार्थक न हो। इसलिए कहाँ किस शब्द का क्या अर्थ ग्रहण किया जाए, इसके निर्णय के लिए प्राचीन आचार्यों ने अनेक उपाय बतलाए हैं। वेदविदों में अलंकारभूत[2] शब्दशास्त्र के महान् आचार्य भर्तृहरि ने अनेकार्थक शब्दों के विशेष अर्थ के ज्ञापक निम्न हेतु दर्शाए हैं—

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः॥

वाक्यपदीय २।३१७, [३१८][3]

अर्थात्—१ संयोग, २ विप्रयोग, ३ साहचर्य, ४ विरोध, ५ अर्थ (=प्रयोजन), ६ प्रकरण, ७ लिङ्ग (=अर्थ-विशेषवाचक शब्द), ८ अन्य पद की समीपता, ९ सामर्थ्य, १० औचित्य, ११ देश, १२ काल, १३ व्यक्ति (=स्त्रीपुन्नपुंसक)

---

१. शब्दों के लौकिक और वैदिक भेद उत्तरकाल में किए गए हैं। अतिप्राचीनकाल में ये भेद नहीं थे। इसकी विशद विवेचना के लिए देखिए हमारा 'सं० व्या० शास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ पृष्ठ ३—६॥

२. वेदविरोधी जैन सम्प्रदाय के महान् आचार्य वर्धमान ने लिखा है—'यस्त्वयं वेदविदामलंकारभूतो...प्रमाणितशब्दशास्त्र...'। गणरत्नमहोदधि पृष्ठ १२३॥

३. काशी से प्रकाशित वाक्यपदीय द्वितीय काण्ड में 'सामर्थ्यमौचिती' आदि द्वितीय कारिका मुद्रित नहीं है, परन्तु पुण्यराज की टीका पृष्ठ २१६-२१७ पर इसका व्याख्यान मुद्रित है॥

और १४ स्वर (उदात्त, अनुदात्त, स्वरित आदि) शब्दार्थ के सन्देह में विशेष अर्थ की स्मृति के हेतु होते हैं।

इन 'संयोग' आदि हेतुओं से विशेष अर्थ का ज्ञान कैसे होता है, इसके सोदाहरण स्पष्टीकरण के लिए वाक्यपदीय की इन्हीं कारिकाओं की पुण्यराज[1] की टीका तथा साहित्यदर्पण परिच्छेद २ कारिका १४ की व्याख्या में देखना चाहिए।

इन चौदह विशेषार्थ-स्मारक हेतुओं में स्वर को छोड़कर शेष १३ हेतु लोक और वेद में समानरूप से स्वीकृत हैं। स्वर वेद में ही नियामक है, लौकिक साहित्य में नहीं; ऐसा अर्वाचीन साहित्य विशारदों का मत है।[2] वेद में स्वरों की अर्थनियामकता को ये साहित्यशास्त्री भी मुक्तकण्ठ से स्वीकार करते हैं, यह हम पूर्व (पृष्ठ ७९) लिख चुके हैं।

वेदार्थ में स्वर प्रधान सहायक

भर्तृहरि द्वारा 'संयोग' आदि साक्षान्निर्दिष्ट १४ हेतु तथा आदि पद से समुच्चयार्ह अन्य हेतु निश्चय ही वेद में विशेष अर्थ के ज्ञान में सहायक हैं, पुनरपि इन विशेषार्थ-निर्णायक हेतुओं में स्वर सबसे प्रधान सहायक है।

स्वर का पदार्थ और वाक्यार्थ पर क्या प्रभाव पड़ता है। उससे अर्थ-विशेष की प्रतीति किस प्रकार होती है। इसकी विशद विवेचना हम पाँचवें अध्याय में कर चुके। यहाँ हम कतिपय ऐसे वैदिक उदाहरण उपस्थित करते हैं, जिनमें स्वर पर ध्यान दिए विना सत्यार्थ का निर्णय हो ही नहीं सकता।
यथा—

१—भ्रातृ॑व्यस्य व॒धाय॑। माध्य० स १।१८॥

'भ्रातृव्य' शब्द के दो अर्थ प्रसिद्ध हैं—एक शत्रु, दूसरा भतीजा। स्वर के विना भ्रातृव्य शब्द का क्या अर्थ लिया जाए, यह सन्दिग्ध ही रहता है। भतीजे के दायभाग के हरण का इच्छुक चाचा इस मन्त्र को उपस्थित करके कहे कि भतीजे को नष्ट करने (मारने में) कोई पाप नहीं, क्योंकि वेद उपर्युक्त मन्त्र में

---

१. पुण्यराज ने आदि शब्द से 'णत्वनत्व' का ग्रहण किया है। यथा—प्रणायकः (बनानेवाला), प्रनायक (नेतारहित देश आदि)॥

२. पुराकाल में लौकिक भाषा में भी स्वरों का प्रयोग होता था। यह पूर्व अध्याय ४ में लिख चुके। अतः उस काल में लिखे गए लौकिक काव्य में भी स्वर अवश्य रहे होंगे॥

भतीजे को मारने की आज्ञा देता है। ऐसे स्वार्थान्ध व्यक्ति द्वारा 'भातृव्यस्य वधाय' वाक्य का किए गए अर्थ का विरोध कैसे किया जा सकता है ?

स्वरशास्त्र का आश्रय लेने पर व्यक्त हो जाता है कि आद्युदात्त भ्रातृव्य पद का अर्थ शत्रु है और अन्तस्वरित का अर्थ भतीजा।[1] अत: यहाँ मन्त्र में आद्युदात्त भ्रातृव्य पद प्रयुक्त है, अत: वेद में शत्रु के नाश का विधान है, भतीजे के नाश का नहीं। अतः इस मन्त्र का 'भतीजे को मारने के लिए' यह अर्थ स्वरशास्त्र के अनुसार हो ही नहीं सकता।

शाखाप्रवचनकारों ने अपने काल में स्वरोच्चारण के शैथिल्य का अनुभव[2] और स्वर के अभाव में भातृव्य शब्द के अर्थ में उत्पन्न होने वाले सन्देह को दृष्टि में रख कर भ्रातृव्यस्य के स्थान में द्विषत: ऐसा स्पष्टार्थक पद रखा, जिसमें किसी प्रकार का सन्देह ही न हो।

२—नतस्य॑ प्रति॒मा अ॑स्ति। माध्य० सं० ३२।३॥

स्वर का आश्रय लिए बिना इस मन्त्रांश के दो अर्थ हो सकते है। एक 'उस [भक्तों के प्रति] झुके हुए प्रभु की प्रतिमा = मूर्ति है'। दूसरा—'उस पूर्व-निर्दिष्ट प्रभु की प्रतिमा = मूर्ति नहीं है'।

ऐसी अवस्था में कौन सा अर्थ शुद्ध है और कौन-सा अशुद्ध, इसका निर्णय विना स्वर-शास्त्र के सम्भव ही नहीं है। यदि कहा जाय कि छपी पुस्तकों में 'न तस्य प्रतिमा अस्ति' इस प्रकार अलग अलग पद छपे हैं तो नतस्य के एक होने का सन्देह ही नहीं होता, तब 'झुके हुए प्रभु की प्रतिमा है' यह अर्थ ही कैसे होगा।

इसका उत्तर यह है कि वेदमन्त्रों का संहितापाठ ही प्रामाणिक माना जाता है, न कि पदविच्छेदयुक्त पाठ। यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है। पदच्छेदरूप में पठित मन्त्रपाठ प्रामाणिक नहीं है, इसके हम दो उदाहरण देते हैं—

क—ऋग्वेद का पदच्छेदयुक्त पाठ है—वने॒ न वा॒ यो न्य॑धायि चा॒कन् (ऋ० १०।२९।१)।

---

१ देखो अष्टाध्यायी—'भ्रातुर्व्यच', 'व्यन् सपत्ने' (४।१।१४४,१४५)। 'व्यन्' प्रत्ययान्त नित्स्वर (अष्टा० ६।१।१९७) से आद्युदात्त होता है, और 'व्यत्' प्रत्ययान्त तित्स्वर (अष्टा० ६।१।१९९) से अन्तस्वरित॥

२. शाखाप्रवचनकाल में कण्ठतः स्वरोच्चारण-प्रक्रिया शिथिल हो चुकी थी, यह हम पूर्व (पृष्ठ ४३) लिख चुके हैं॥

इसमें शाकल्य के अनुसार 'वा यः' दो पद हैं। ऐसा ही मुद्रित ग्रन्थों में छपा भी है। परन्तु यास्क ने निरुक्त ६। २८ में लिखा है—

वायो वे पुत्र……। वेति च य इति च चकार शाकल्यः, उदात्तं त्वेवमाख्यातमभविष्यदसुसमाप्तश्चार्थः।

अर्थात्—'वायः' पक्षी का बच्चा……।

शाकल्य ने 'वा' 'यः' ऐसे दो पद माने हैं। 'य' पृथक् पद होने से 'अधायि' क्रिया उदात्त होनी चाहिये [यद्वृत्तान्नित्यम्। अष्टा० ८।१।६६ नियम से], परन्तु है अनुदात्त। तथा 'यत्' के योग में जब तक 'तत्' का अध्याहार करके दूसरा वाक्य न जोड़ें, अर्थ भी अधूरा रहता है। अभिप्राय यह है कि शाकल्य का 'वा यः' दो पद मानना स्वरशास्त्र के अनुसर अशुद्ध है।

इससे स्पष्ट है कि जहाँ अर्थ सन्दिग्ध होता है, वहाँ पदच्छेद प्रामाणिक नहीं माना जाता, अपितु स्वर से ही अर्थ और पदच्छेद का निश्चय किया जाता है। यह भी ध्यान रहे कि अथर्व २०। ७६। १ में इस मन्त्र के पदपाठ में 'वाय.' एक पद ही माना गया है।

ख—ऋग्वेद का दूसरा मन्त्र है—अरुणो मा सकृत् (१।१०५।१८)।

इसमें 'मा सकृत्' ऐसे दो पद छपे हैं। परन्तु यास्क दोनों को एक पद मानकर अर्थ करता है—मासकृत् मासानां चार्धमासानां च कर्ता (निरु० ५। २१)। अर्थात् महीने और अर्ध महीने का बनाने वाला [चन्द्रमा]।

स्वरशास्त्र के अनुसार 'मा-सकृत्' अथवा 'मासकृत्' दोनों प्रकार से पदच्छेद हो सकता है। परन्तु सपदच्छेद मुद्रण को प्रामाणिक मानने वाले व्यक्ति इन दोनों स्थानों पर यास्क की ही अशुद्धि समझेंगे।

इन दोनों उदाहरणों से स्पष्ट है कि वेद का संहितापाठ (विना पदच्छेद किए) ही प्रामाणिक है। उस अवस्था में 'नतस्य प्रतिमा अस्ति' के 'झुके हुए प्रभु की मूर्ति है' इस अर्थ को कैसे अशुद्ध ठहराया जा सकता है।

यदि स्वरशास्त्र का आश्रय लिया जाए (जैसा 'वायः' में यास्क ने लिया है) तो स्पष्ट होगा कि 'नतस्य' ऐसा पदच्छेद हो ही नहीं सकता, क्योंकि स्वर-शास्त्र के अनुसार एक पद में एक ही उदात्त होता है (तवैप्रत्ययान्त को छोड़कर)। यहाँ 'नतस्य' में न और त दोनों उदात्त है, अतः ये दो पद ही हैं एक पद नहीं, यह निश्चित है। अतः 'उस प्रभु की प्रतिमा = मूर्ति नहीं है' यह अर्थ शुद्ध है, और दूसरा अर्थ अशुद्ध, यह स्पष्ट है।

उपर्युक्त उदाहरणों से यह भी स्पष्ट है कि स्वर सभङ्ग श्लेष में भी वहीं बाधक होता है जहां पदभङ्ग करने पर स्वर-दोष होता हो। जहां सभङ्ग श्लेष में स्वरबाधक नहीं होता, वहां वेद में सभङ्ग श्लेष भी स्वीकार किया जाता है। यथा अ॒रु॒णो मा॑स॒कृत् में 'मासकृत्' एक पद भी माना जाता है और 'मा सकृत्' दो पद भी।

३. हम पूर्व (पृष्ठ ७७) लिख चुके हैं कि मीमांसा ३।३।१६ के शाबरभाष्य में ज्योतिष्टोम-प्रकरण में पठित तिस्र एव साह्नस्योपसदः, द्वादशाहीनस्य में श्रुत अहीनशब्द मध्योदात्त स्वर के कारण ही ज्योतिष्टोम प्रकरण को बाधकर स्वतन्त्र अहीन संज्ञक याग में 'द्वादश उपसद्' याग का विधान माना है।

'कुह कस्य' का स्वर और अर्थ—ऋग्वेद (१०।१२९) के नासदीय सूक्त के प्रथम मन्त्र में कुह॒क॑स्य में दो उदात्त स्वर हैं। अतः यह स्पष्ट है कि ये दो पद हैं, एक पद नहीं। रावण और स्वामी दयानन्द सरस्वती ने कुहकस्य का जो अर्थ किया है, तदनुसार अनेक विद्वानों का मत है कि इन दोनों आचार्यों ने कुहकस्य को एक पद माना है। यथा—

रावण—यथा कुहकस्यैन्द्रजालिकस्य।[1]

स्वामी दयानन्द सरस्वती—यत् प्रातः कुहकस्य वर्षाकाले धूमाकारेण वृष्टं किञ्चिज्जल वर्तमानं भवति……।[2]

रावण की व्याख्या संदिग्ध—रावण ने कुहकस्य को एक पद माना अथवा दो पद यह सन्दिग्ध है।

स्वामी दयानन्द ने एक पद नहीं माना—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने निश्चय ही कुहकस्य समुदाय को एक पद नहीं माना, यह इस मन्त्र की पूरी व्याख्या के सूक्ष्म अवलोकन से स्पष्ट है। वे मन्त्र के कुह कस्य पदों का अर्थ कुह = क्वचित् असार्वत्रिक अर्थात् किञ्चित् और कस्य = जलस्य समझ रहे हैं। इसी अभिप्राय को उन्होंने भावप्रधान (न कि पदार्थप्रधान) व्याख्या में उपर्युक्त प्रकार से दर्शाया है।[3] हां, इतना अवश्य है कि जैसे वाचस्पतिः आदि दो पृथक् पदों को अर्थ करते समय इकट्ठा पढा जाता है, उसी प्रकार उन्होंने कुह कस्य दो पृथक् पदों को भी इकट्ठा पढकर उनका भाव दर्शाया है।

---

१. सूर्यपण्डित-विरचित गीताभाष्य ९।१० में उद्धृत। द्र० वैदिक वाङ्मय का इतिहास, 'वेदों के भाष्यकार' भाग, पृष्ठ २६०॥

२ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, सृष्टिविद्याविषय, पृष्ठ ११७, संस्क० २॥

३. स्वामी दयानन्द सरस्वती ने यजुर्वेद ५।६ के भाष्य में पदपाठ से विपरीत होने से महीधर के व्याख्यान को अशुद्ध कहा है॥

व्याख्याकार व्याख्या करते समय न केवल समीपस्थ दो पदों को ही इकट्ठा करके अर्थ-निर्देश करते हैं, अपितु दो व्यवहित पदों को भी इकट्ठा करके उनका एक पद द्वारा अर्थनिदर्शन कराते हैं। अतएव बृहद्देवताकार शौनक ने लिखा है—

पदव्यवायेऽपि पदे एकीकृत्य निरुक्तवान्।
गर्भं निधानमित्येते न जामय इति त्वृचि ॥ २।११३ ॥

अर्थात्—पद के व्यवधान होने पर भी दो पदों को इकट्ठा करके यास्क ने व्याख्या की है, यथा न जामयः (निरुक्त ३।७) मन्त्र में व्यवहित गर्भं निधानम् पदों का गर्भनिधानीम् पद से निर्वचन (अर्थ) दर्शाया है।

इसलिए स्वामी दयानन्द सरस्वती के मत में कुह कस्य को एक पद मानना भ्रम मात्र है। उन्होंने तो केवल अर्थनिदर्शनार्थ एकत्र पढा है।

अभी तक हमने स्वरशास्त्र के अनुसार स्वरभेद से अर्थभेद तथा स्वर द्वारा अर्थ-निर्धारण का प्रतिपादन किया। अब हम स्वरशास्त्र शब्दार्थ की सूक्ष्मता में कितना सहायक है, इसका प्रतिपादन करते हैं।

शब्द के सूक्ष्म अर्थ तक पहुँचने में स्वर-शास्त्र की सहायता

किसी भी धातु के सन्नन्त रूप में तिप् सिप् मिप् प्रत्ययों के परे सन् प्रत्यय के नित् होने से आद्युदात्त स्वर होता है, अर्थात् मूल धातु में उदात्तत्व रहता है। यथा—चिकीर्षति चिचीषति चिखादिषति। इन पदों में तिप् प्रत्यय को दूर करके दो भाग हैं—कृ + सन्, चि + सन्, खाद + सन्। सन् प्रत्यय का अर्थ है इच्छा[1]। अतः इनका क्रमशः अर्थ होगा—करने की इच्छा करता है, चुनने की इच्छा करता है, खाने की इच्छा करता है। देवदत्त आदि के हाथ में चटाई बुनने के साधन घास और सूत अथवा प्रातःकाल के समय बगीचे में हाथ में फूल चुनने की डलिया अथवा भोजन करने की तैयारी करते देख कर वक्ता प्रयोग करता है—देवदत्त कटं चिकीर्षति, पुष्पं चिचीषति, अन्नं चिखादिषति। इन प्रयोगों को उच्चारण करने वाले व्यक्ति का इतना ही तात्पर्य नहीं होता कि देवदत्त इन क्रियाओं के करने की इच्छा मात्र करके कार्यान्तर में व्यापृत हो जाएगा, अपितु उसका भाव है कि यह देवदत्त शीघ्र ही इन क्रियाओं के करने में प्रवृत्त होगा। इसलिए चिकीर्षति चिचीषति चिखादिषति प्रयोगों में इच्छा अर्थ की प्रधानता नहीं है, अपि तु इच्छापूर्वक

१. 'धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा'। अष्टा० ३।१।७ ॥

मूलभूत कृ, चि, खाद धातुओं के अर्थ की प्रधानता है। इसलिए इन शब्दों (सन्नन्तों) में सन् प्रत्यय का सकार उदात्त न होकर मूल धातु उदात्त होता है।

अब लीजिए वैदिक उदाहरण—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत ँ समाः। यजुः ४०।२॥

इस मन्त्र में 'जिजीविषेत्' पद में सन् प्रत्यय का 'ष' भाग उदात्त है[1]। यह 'जीव' धातु का सन्नन्त रूप है। जहाँ इस रूप में अन्य सन्नन्त रूपों से स्वर में भिन्नता है, वहाँ अर्थ में भी भिन्नता है। स्वरशास्त्र के अनुसार यहाँ सन्= इच्छा अर्थ की प्रधानता होनी चाहिए, जीव धातु की नहीं। 'जिजीविषति' में अर्थ ठीक इसी के अनुरूप है। 'जीव' धातु का अर्थ है—'प्राणधारण-क्रिया' प्राणधारण और पूर्वोक्त बनाना, चुनना, खाना क्रियाओं में बहुत भिन्नता है। बनाना, चुनना और खाना क्रियायें कर्त्ता के आधीन हैं। वह चाहे तो इन क्रियाओं को करे चाहे न करे। परन्तु प्राणधारण-क्रिया मनुष्य के अधीन नहीं है। प्राणधारण-क्रिया तो उसके सोते, यहाँ तक कि मूर्छित अवस्था में भी होती रहती है, कई बार मनुष्य मरना चाहता है, परन्तु मृत्यु नहीं होती। इससे स्पष्ट है कि प्राणधारण-क्रिया पर मनुष्य का उस प्रकार का प्रभुत्व नहीं है, जैसा बनाना, चुनना और खाना आदि क्रियाओं पर है। चिकीर्षति, चिचीषति, चिखादिषति क्रियाओं के प्रयोग में कर्ता केवल इन क्रियाओं की इच्छा मात्र करके कृतकार्य नहीं हो जाता, अपितु वह अपने पूर्ण प्रयत्न से इन क्रियाओं में प्रवृत्त होता है। जिजीविषति क्रिया का कर्ता केवल प्राणधारण की इच्छा-मात्र कर सकता है, वह स्वयं प्राणधारण-क्रिया नहीं कर सकता, क्योंकि प्राणधारण-क्रिया पर उसका प्रभुत्व नहीं है। यही कारण है कि जिजीविषेत् में सन् प्रत्यय में उदात्तत्व है, धातु में नहीं।

इस वैदिक उदाहरण से स्पष्ट है कि स्वर शब्द के सूक्ष्म अर्थ के परिज्ञान में कितना सहायक है। स्वर की किञ्चिन्मात्र उपेक्षा से अर्थ में कितना परिवर्तन हो जाता है और स्वाभाविकता नष्ट हो जाती है, यह भी उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है।

शब्द के स्वरूप-निर्णय में स्वर-शास्त्र का साहाय्य

शब्द अथवा पद के स्वरूप-निर्णय करने में स्वरशास्त्र असाधारण साहाय्य प्रदान करता है। इस विषय के नतस्य, वाय दो उदाहरण हम पूर्व (पृष्ठ ८१-८२)

---

१. यासुट् का उदात्तत्व अदुपदेश के कारण नष्ट हो जाता है। अष्टा० ६।१।१८६॥

लिख चुके हैं। इनमें नतस्य एक पद नहीं है, न तस्य दो पृथक् पृथक् पद हैं। इसी प्रकार वाय. दो पद नहीं (जैसा कि शाकल्य ने माना है), अपितु वायः एक पद है।

इसी प्रकार का हम एक विशिष्ट उदाहरण उपस्थित करते हैं। वह है बृहस्पति पद का।

मैकडानल और उसके अनुयायी गुणे प्रभृति—मैकडानल (वैदिक ग्रामर, पृष्ठ १६८, १६९ सन्दर्भ २८०) तथा गुणे ने (पृष्ठ ६४, ६५) लिखा है—

ऋतुस्पतिं, रथस्पतिं में 'स्' के श्रवण का कारण बृहस्पति पद का सादृश्य है।[1] पर बृहस्पति में 'स्' युक्त है, क्योंकि 'बृहस्' (बृहः) हकारान्त 'बृह्' शब्द का षष्ठी का एकवचन का रूप है। परन्तु ऋत और रथ शब्द अकारान्त हैं। उनमें पति शब्द से समास होने पर 'ऋतपति' 'रथपति' ही हो सकता है, 'ऋतस्पति' 'रथस्पति' नहीं।

स्वर-शास्त्र के अज्ञान से भ्रान्ति—मैकडानल प्रभृति ने 'बृहस्' की की तुलना वाचस्पति के 'वाचस्' से करके 'बृहस्' को षष्ठी के एकवचन का रूप माना है। इन्होंने शब्द की बाह्य शरीर-रचना में तो सादृश्य देख लिया, परन्तु शब्द की आत्मा–स्वर का उन्होंने अवलोकन ही नहीं किया। यदि वे स्वर पर ध्यान देते तो ऐसी भयङ्कर भूल से बच जाते।

तीन भूलें—उपर्युक्त लेख में मैकडानल तथा उसके अनुयायी गुणे प्रभृति ने तीन भूलें की हैं। यथा—

प्रथम—वाचस्पतिं में 'वाचस्' अन्तोदात्त है और बृहस्पतिं में 'बृहस्' आद्युदात्त। यदि 'बृहस्' भी 'वाचस्' के सदृश हकारान्त 'बृह्' शब्द का षष्ठी का एकवचन होता तो **सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः** (अष्टा० ६।१।१६५) इस निरपवाद नियम के अनुसार अन्तोदात्त होता। यतः बृहस्पति में 'बृहस्' आद्युदात्त है, अतः स्पष्ट है कि यह हकारान्त 'बृह्' शब्द का षष्ठी का एकवचन नहीं है। यह तो कसुन् प्रत्ययान्त स्वतन्त्र शब्द है और प्रत्यय के नित् होने से आद्युदात्त (अष्टा० ६।१।१९७) है।

द्वितीय– वेद में जहां कहीं भी वाचस्पति आदि पदों में एकाच् शब्द के षष्ठी के एकवचन से परे पति शब्द का निर्देश उपलब्ध होता है, वहां सर्वत्र

---

१. सादृश्य के उपयोग और दुरुपयोग के लिए श्री पं० भगवद्दत्तजी कृत 'भाषा का इतिहास' (द्वि० सं०) का सादृश्य-सञ्ज्ञक व्याख्यान (पृष्ठ ६४–७३) विशेष रूप से देखना चाहिए॥

दोनों स्वतन्त्र पृथक् पृथक् पद हैं, समस्त नहीं। पदकारों ने भी ऐसे स्थानों पर पृथक् पृथक् पद ही दर्शाए हैं, बृहस्पति पद समस्त है, पदकार भी इसे एक पद ही मानते हैं। अतः इसमें 'बृहस्' को 'वाचस्' के सदृश षष्ठी का एक-वचन मानना भूल है।

तृतीय—मैकडानल प्रभृति ने रथस्पति, ऋतस्पति आदि में बृहस्पति पद की सदृशता से सकार का भ्रान्त आगम माना है। परम सावधानतापूर्वक रक्षित ऋग्वेद जिसमें आज तक एक भी पाठान्तर नहीं हुआ, उसमें प्रयुक्त ऋतस्पति आदि पदों में सादृश्य के कारण सकारागम की कल्पना नितान्त अयुक्त है। इतना ही नहीं, यदि मैकडानल स्वरशास्त्र के प्रकाश में बृहस्पति पद पर विचार करता तो उसे यह भ्रान्ति कदापि न होती।

वस्तुतः जिस प्रकार 'बृहस्' आद्युदात्त होने से कसुन् प्रत्ययान्त स्वतन्त्र शब्द है, उसी प्रकार ऋतस्पति और रथस्पति के पूर्वपद ऋतस् और रथस् भी आद्युदात्त होने से कसुन् प्रत्ययान्त स्वतन्त्र शब्द हैं। इनका अकारान्त ऋत और रथ से कोई सम्बन्ध नहीं। इतना ही नहीं, अकारान्त ऋत शब्द सर्वत्र अन्तोदात्त है। उसका पति शब्द के साथ समास मानने पर उभयपद-प्रकृति-स्वर होकर ऋतस्पति में पूर्वपद अन्तोदात्त ही होना चाहिए। सकार आगम तो सादृश्य से मान लिया, परन्तु अन्तोदात्त ऋत को समास में आद्युदात्त कैसे हो गया, इसकी कुछ चिन्ता ही नहीं की। वस्तुतः यह स्वरशास्त्र की उपेक्षा का ही फल है।

यह ध्यान रहे कि संस्कृत वाङ्मय में अकारान्त, इकारान्त और उकारान्त अनेक ऐसे शब्द हैं जो सान्त भी देखे जाते हैं। यथा—

ओक—ओकस्, छन्द-छन्दस्, पक्ष-पक्षस्, श्रव-श्रवस् आदि।

अर्चि अर्चिस्, छर्दि-छर्दिस् इत्यादि।

जटायु-जटायुस्, तनु-तनुस्, धनु-धनुस्, आयु-आयुस् इत्यादि।

इसी प्रकार बृहस्, ऋतस्, रथस् भी सान्त स्वतन्त्र शब्द हैं।

स्वर की उपेक्षा से पद अथवा शब्द के स्वरूप-ज्ञान में कैसी भयकर भूलें होती हैं, इसके दो (वाय—बृहस्पति.) उदाहरण देकर हम स्पष्टीकरण कर चुके। अब हम स्वर की उपेक्षा से वेद का अर्थ कितना अशुद्ध हो जाता है, इसका स्पष्टीकरण करते हैं।

स्वर-शास्त्र की उपेक्षा के दुष्परिणाम के उदाहरण

१—ऋग्वेद ६।१।२ में पठित 'इळस्पदे' का व्याख्यान करते हुए स्कन्द-स्वामी ने लिखा है—

इळश्छान्दसत्वादाकारलोपः ।[१]

अर्थात्—'इळस्पदे' में 'इळा' के आकार का छान्दस लोप हो गया है।

स्कन्द का यह व्याख्यान स्वर-शास्त्र के विपरीत होने से चिन्त्य है। इळः पद अन्तोदात्त पढ़ा है। षष्ठी विभक्ति तभी उदात्त हो सकती है, जब वह इळ् हलन्त से परे हो। पाणिनि ने एक नियम दर्शाया है—

सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः। अ० ६।१।१६८॥

अर्थात्—सप्तमी विभक्ति के बहुवचन 'सु' के परे जो शब्द एकाच् देखा जाता है, उससे परे तृतीयादि विभक्ति उदात्त होती है।

अतः स्कन्दस्वामी की उपर्युक्त व्याख्या स्वरशास्त्रानुसार दूषित होने से अप्रामाणिक है।

२—ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के प्रथम सूक्त का ७ वाँ मन्त्र है—

उप॑ त्वाग्ने दि॒वेदि॑वे॒ दोषा॑वस्तर्धि॒या व॒यम् । नमो॒ भर॑न्त॒ एम॑सि ॥

इसमें 'दोषावस्तः' पद आद्युदात्त है। पाद के आदि में आद्युदात्त होने से 'दोषावस्तः' पद संबोधन है, यह स्पष्ट है।

आचार्य सायण इस मन्त्र की व्याख्या में लिखता है—

दिवेदिवे प्रतिदिन दोषावस्तः रात्रावहनि च······दोषाशब्दो रात्रिवाची। वस्तर् इत्यहर्वाची। द्वन्द्वसमासे कार्तकौजपादित्वात् (द्र० अष्टा० ६।२।३७) आद्युदात्तः······।

अर्थात्—'दोषावस्त' का अर्थ है दिन रात में। 'दोषा' शब्द रात्रि का वाचक है, 'वस्तर्' रेफान्त दिनवाची। द्वन्द्व समास में 'कार्तकौजपादयश्च' इस सूत्र से आद्युदात्त हुआ है।

सायण के अर्थ में भूलें—सायण ने सामान्य संबोधन स्वर पर ध्यान न देकर निम्न भूलें की हैं—

१—'वस्तर्' किसी ग्रन्थ में दिनवाची नहीं है, उसे दिनवाची लिखा।

२—रेफान्त 'वस्तर्' अव्यय है अथवा नाम, यह व्यक्त नहीं किया। दोषावस्तः का सप्तमी—'रात और दिन में' अर्थ कैसे किया, यह अज्ञात है। क्या सप्तमी का लुक् हुआ है? अथवा अव्ययों का समास है?

३—यदि 'दोषावस्तः' में वस्तः रेफान्त पद नहीं है तो यह किस पद का किस विभक्ति का रूप है, यह स्पष्ट करना चाहिए।

---

१. स्कन्दस्वामी का यह पाठ देवराज यज्वा ने निघण्टु १।१।१५ की व्याख्या में उद्धृत किया है॥

४—कार्तकौजपादयश्च (अष्टा० ६ । २ । ३७ ।) सूत्र आद्युदात्त स्वर का विधान नहीं करता । पूर्वपदप्रकृतिस्वर का विधान करता है । तथा कार्तकौजपादि गण में 'दोषावस्तः' पद पढ़ा भी नहीं है ।[1]

५—यदि कहा जाए कि पूर्वपदप्रकृतिस्वर होकर दोषावस्तः में दोषा पद आद्युदात्त हो गया, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि सम्पूर्ण उपलब्ध वैदिक वाङ्मय में 'दोषा' शब्द आद्युदात्त नहीं है, अन्तोदात्त है । केवल यास्कीय निघण्टु में दोषा शब्द आद्युदात्त पठित है । सम्भव है वहां लेखकप्रमाद हुआ हो । निघण्टु के टीकाकार देवराजयज्वा के मुद्रित ग्रन्थ में दोषा पद की व्याख्या उपलब्ध नहीं होती ।

६—सायण ने 'दोषावस्तः' में द्वन्द्वसमास माना है, परन्तु द्वन्द्वसमास में पदकार अवग्रह नहीं दर्शाते । यह उनका नियम है । यहां पदपाठ में 'दोषाऽवस्त.' अवग्रह दर्शाया है । अत यहां द्वन्द्वसमास नहीं है, यह स्पष्ट है । सायण का द्वन्द्वसमास लिखना चिन्त्य है ।

समय की भूल का कारण—सायण निस्सन्देह अच्छा विद्वान् था, परन्तु स्वर-वैदिक-प्रक्रिया में वह निरा बालक है । ऋग्वेदभाष्य में उसने जो स्वर प्रक्रिया दर्शाई है, उसमें पदे पदे भूलें हैं । स्वरप्रक्रिया में वह प्रायः तैत्तिरीय संहिता के भाष्यकार भट्टभास्कर का अनुकरण करता है । 'दोषावस्त ' का जो अर्थ तथा स्वर सायण ने लिखा है, वह उसने भट्टभास्कर के तैत्तिरीय संहिताभाष्य से लिया है ।

भट्टभास्कर का अर्थ—यह मन्त्र तैत्तिरीय संहिता १।५।६।२ में उपलब्ध होता है । वहाँ भट्टभास्कर लिखता है—

दोषावस्तः रात्रावह्नि च सायं प्रातश्च ·· ··। दोषावस्तरिति कार्तकौजपादिषु द्रष्टव्यः ।

अर्थात् दोषावस्तः = रात्रि और दिन में, सायं प्रातः ··   । दोषावस्तः पद को कार्तकौजपादि (अ० ६।२।३७) गण में देखना चाहिए ।

---

१ इधर कुछ दिनों के सायणभाष्य के अनुशीलन से हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि सायण को वस्तुत स्वर-शास्त्र का अच्छा ज्ञान नहीं था । वह प्रायः प्रतिमन्त्र स्वरविषयक एक दो भयंकर अशुद्धियाँ करता है । हमारा विचार है सायण ने ऋग्भाष्य में जो स्वर-प्रक्रिया लिखी है, वह उसने किसी अन्य के भाष्य से संगृहीत की है, उसका अपना लेख बहुत कम है, और वह प्राय· अशुद्ध है ॥

श्रीनिवासयज्वा—श्रीनिवासयज्वा ने स्वरसिद्धान्तचन्द्रिका में ६।२।३७ की व्याख्या में भट्टभास्कर का ही अनुकरण किया है।

अन्य भाष्यकारों का अर्थ—अब हम इस मन्त्र के अन्य भाष्यकारों का मत उद्धृत करते हैं—

वेङ्कटमाधव (लघुभाष्य)—डा० लक्ष्मण स्वरूप द्वारा सम्पादित वेङ्कट-माधव के ऋग्भाष्य में इस पद का अर्थ किया है—

'''सायं प्रातश्च''''''।

माधवभाष्य (बृहद्भाष्य[1])—माधव के नाम से ऋग्वेद का जो भाष्य अड्यार (मद्रास) से प्रकाशित हुआ है, उसमें इस पद का भाष्य इस प्रकार किया है—

दोषावस्तर्दोषाया आच्छादयितः। दोषा निशा भवति दूषयति दर्शनीयम्''''''।

यहाँ माधव ने स्पष्ट ही दोषावस्त' को संबोधन माना है और 'वस्तः' को वस अच्छादने का तृजन्त संबोधन रूप।

सायण से भी अधिक आश्चर्य हमें वेङ्कटमाधव पर है। वेङ्कटमाधव ऋग्वेदज्ञों में मूर्धाभिषिक्त है। वेङ्कट स्वरशास्त्र का असाधारण ज्ञाता है, यह उसकी स्वरानुक्रमणी और ऋग्वेद के बृहद्भाष्य से स्पष्ट है। वेङ्कट की स्वर निपात आदि विषयक अनुक्रमणिया उसके लघुभाष्य के ही अंश हैं, और लघुभाष्य में ही 'दोषावस्तः' पद का अर्थ अशुद्ध उपलब्ध होता है। इससे हमें सन्देह होता है कि कहीं उसके लघुभाष्य का पाठ भ्रष्ट न हो गया हो।

हमें स्वर के सम्बन्ध में जो सूक्ष्म रहस्य ज्ञात हुए हैं, उसमें उसकी स्वरानुक्रमणी ही प्रधान है। ऐसे महान् स्वरज्ञ वेङ्कट ने अपने लघुभाष्य में 'दोषावस्त:' में सम्बोधन स्वर की उपेक्षा करके 'सायं प्रात.' अर्थ कैसे किया, यह समझ में नहीं आता। इस आश्चर्य की सीमा तब अधिक वृद्धिगत हो जाती है, जब हम उसी के बृहद्भाष्य में सबोधन स्वरानुकूल ही शुद्ध अर्थ पाते हैं और वेङ्कट से प्राचीन स्कन्दभाष्य में भी शुद्ध अर्थ ही देखते हैं।

स्कन्दस्वामी—स्कन्दस्वामी ने 'दोषावस्तः' का अर्थ किया है—

---

१. यह वस्तुत. वेङ्कटमाधव का ही ऋग्वेद का बृहद्भाष्य है। देखो श्री प० भगवद्दत्त जी विरचित वैदिक वाङ्मय का इतिहास—'वेदों के भाष्यकार' भाग ॥

दोषेति रात्रिनाम, वस आच्छादने। रात्रौ स्वेन ज्योतिषा तमसा-माच्छादयित॰ ॰॰ ।

अर्थात्—दोषा रात्री का नाम है, वस आच्छादने से वस्तृ शब्द बना है। रात्रि में अपने प्रकाश से [अग्नि] अन्धकार को अच्छादित कर देता है।

सायण का स्ववचन-विरोध—'उप त्वाऽग्ने' मन्त्र तैत्तिरीय संहिता १।५।६।२ माध्यन्दिन संहिता ३।२२ काण्वसंहिता ३।३० में भी उपलब्ध होता है। तैत्तिरीय संहिता के भाष्य में सायण 'दोषावस्तः' का अर्थ सायंप्रातश्च ही करता है, परन्तु काण्वसंहिताभाष्य में—

हे दोषावस्तः अग्ने। दोषा रात्रिः तस्यामपि वसति, अजस्रं धार्यमाणत्वान्नोपशाम्यति इति दोषावस्ता।

अर्थात्—दोषा रात्रि का नाम है, उसमें बसता है। नित्य धार्यमाण होने से रात में भी शान्त नहीं होता। अतः अग्नि दोषावस्ता है।

सायण ने इस अर्थ में अपने पूर्ववर्ती उवट के यजुर्भाष्य का अनुकरण किया है।

उवट—उवट यजु ३।२२ में लिखता है—

हे दोषावस्तः। दोषेति रात्रिनाम। वस निवासे। रात्र्यां वसनशीलो दोषावस्ता, तस्य संबोधनं हे दोषावस्तः।

अर्थात्—दोषा रात्रि का नाम है। वस निवासे धातु से वस्तृ शब्द बनता है। रात्रि में बसने वाला दोषावस्ता, उसका संबोधन का रूप 'दोषावस्तः' है।

महीधर—महीधर यजुः भाष्य में उवट का ही अनुकरण करता है।

मैकडानल—मैकडानल को सायण की भूल खटक गई थी। इसलिए उसने वैदिक रीडर में 'दोषावस्तः' पद का ठीक अर्थ किया है।

इस विवेचना से स्पष्ट है कि 'दोषावस्तः' पद में आद्युदात्तत्व संबोधन स्वर के कारण ही है। संबोधन स्वर की उपेक्षा करके सायण और भट्टभास्कर ने भयंकर भूलें की हैं।

दोषावस्तः का 'हे रात्रि में बसने वाले' यही एक मात्र शुद्ध अर्थ है, इस विषय में हम अन्य प्रमाण भी उपस्थित करते हैं—

कठ कपिष्ठल संहिता ४।७ में लिखा है—

यदि सायमग्निहोत्रस्य कालोऽतिपद्येत "दोषावस्तोः स्वाहा" इति जुहुयात्। सैव तत्राहुतिः। तेनास्य तदनतिपन्नं भवति। यदि प्रातरग्निहोत्रस्य कालोऽतिपद्येत "दिवा वस्तो. स्वाहा" इति जुहुयात्। सैव तत्राहुति। तेनास्य तदनतिपन्नं भवति।

अर्थात्—यदि सायं काल के अग्निहोत्र-काल का अतिक्रमण = उल्लंघन हो जावे तो "दोषा वस्तोः स्वाहा" इस मन्त्र से हवन करे। यही वहाँ आहुति है। उससे इस [अग्निहोत्र के काल] का अतिक्रमण नहीं होता। यदि प्रातः अग्निहोत्र काल का अतिक्रमण हो जाए तो "दिवा वस्तोः स्वाहा" मन्त्र से हवन करे। यही वहाँ आहुति है। उससे इसका अतिक्रमण नहीं होता।

इस पाठ में "दोषा वस्तोः" और "दिवा वस्तोः" दोषा और दिवा दोनों के साथ वस्तृ शब्द के षष्ठ्यन्त का प्रयोग होने से स्पष्ट है कि यहाँ 'वस्तृ' शब्द दिन का वाचक नहीं है। अग्निहोत्र में सायं काल अग्नि की आहुति होती है, इसलिए उसके लिए 'दोषावस्तोः' 'रात्रि में वसनेवाले के लिए' (यहाँ चतुर्थ्यर्थ में षष्ठी है) निर्देश किया और प्रातः सूर्य के लिए आहुति दी जाती है, अत. उसे 'दिवा वस्तोः' (दिन में बसने वाले के लिए) कहा।

इसी अभिप्राय के पाठ काठक और मैत्रायणी संहिता में भी उपलब्ध होते हैं। यथा—

काठक संहिता ६।८ में सर्वथा कठ कपिष्ठलवत् ही पाठ है।

मैत्रायणी संहिता १।८।७ में मन्त्रपाठ इस प्रकार है—

दोषावस्तोर्नमः स्वाहा।
प्रातर्वस्तोर्नमः स्वाहा।

इन तुलनाओं से स्पष्ट है कि निघण्टु १।९ में 'वस्तोः' का पाठ अहर्नामों में होने पर भी जहाँ अग्नि के प्रसंग में 'दोषा' पद के साथ 'वस्तृ' का निर्देश होता है, वहाँ 'वस्तृ' पद दिन का वाचक नहीं होता, अपितु वह 'वस निवासे' धात्वर्थानुसार 'दोषा' रात्रि में निवास करने वाला अर्थ का ही वाचक होता है।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि वेद के वास्तविक अर्थ के ज्ञान के लिए स्वरशास्त्र का जानना आवश्यक है। उसके सहारे से व्याख्याता शब्दार्थ में भूल से बच जाते हैं। अन्यथा स्वर की उपेक्षा से व्याख्याता पदे पदे भूलें करता है।

इस प्रकार इस अध्याय में 'वेदार्थ में स्वरशास्त्र की विशेष सहायता और उसकी उपेक्षा के दुष्परिणाम' पर संक्षेप से लिखकर अगले अध्याय में 'वेद में स्वर-व्यत्यय नहीं' इस विषय पर लिखा जायेगा॥

नवम अध्याय

वेद में स्वर आदि का व्यत्यय नहीं

पूर्व विवेचना से स्पष्ट है कि वेद में एकमात्र स्वर ही ऐसा साधन है, जिसके द्वारा व्याख्याता पद के वास्तविक और सूक्ष्मतम अभिप्राय तक पहुँच सकता है। इसलिए वेद में यथावस्थित स्वर के अनुसार ही पद-विवरण का प्रयत्न करना चाहिए, यह यास्क आदि सभी प्राचीन आचार्यों का मत है।

अर्वाचीन वैयाकरण और वेद-व्याख्याता—अर्वाचीन वैयाकरण इस प्राचीन मत को स्वीकार नहीं करते। उनका मत है कि वेद में स्वर का व्यवस्थित नियम नहीं है। उसमें अनेक स्थानों पर स्वर-नियमों का व्यत्यय = उल्लघन देखा जाता है। इसलिए व्याख्याता को चाहिए कि जहा स्वर अर्थ के अनुकूल प्रतीत न हो, वहा स्वर की उपेक्षा कर देनी चाहिये। वैयाकरणों के इस मत का आश्रयण करके अर्वाचीन वेदभाष्यकार वेदार्थ के व्याज से स्वच्छन्द विहार करते हैं और मनमाना अभिप्राय वेद से निकालने का प्रयत्न करते हैं।

हमारा विचार इसके सर्वथा विपरीत है। हम समझते हैं कि वेद में स्वरव्यत्यय की कल्पना करते ही वेद का वास्तविक तथा सूक्ष्म अर्थ लुप्त हो जाता है।

अर्वाचीन वैयाकरणों के मत में दोष—यदि अर्वाचीन वैयाकरणों के मतानुसार **वने न वायो न्यधायि चाकन्** (ऋ० १०।२९।१) के **अधायि** पद में स्वर-व्यत्यय की कल्पना की जाए तो यास्क का पूर्व-निर्दिष्ट सारा लेख[1] अशुद्ध ठहरेगा। **नतस्यप्रतिमाअस्ति** (यजु० ३२।३) में **अनुदात्तं पदमेकवर्जम्** (अष्टा० ६।१।१६१) नियम का उल्लघन मानकर **नतस्य** में दो उदात्त एक पद में मान लिए जाएँ तो 'झुके हुए प्रभु की प्रतिमा = मूर्ति' स्वीकार करनी होगी। इसी प्रकार **भ्रातृव्यस्य वधाय** (यजुः १।१८) में स्वर-नियम की उपेक्षा करके 'भतीजे का मारना' वेदविहित मानना होगा। स्वर-व्यत्यय स्वीकार करने पर इन ऊटपटाग अर्थों का प्रतिरोधक क्या होगा, यह एक विचारणीय समस्या बन जायगी।

---

१. देखो, पूर्व पृष्ठ॥

इतना ही नहीं, चिकीर्षति और जिजीविषति क्रियाओं के अर्थ में जो मौलिक भेद (प्रथम में क्रियार्थ की प्रधानता, दूसरे में प्रत्ययार्थ-इच्छा की प्रधानता) है, उसकी प्रतीति कैसे होगी। यदि हमने जिजीविषति के षकार में दृष्ट उदात्तत्व को स्वर-व्यत्यय मानकर टाल दिया होता, तो हमें यह सूक्ष्म भेद कभी प्रकट ही नहीं होता।

वेङ्कट माधव और अर्वाचीन वैयाकरण—ऋग्वेदभाष्यकार वेङ्कट माधव अर्वाचीन वैयाकरणों के मत का निदर्शन कराता हुआ लिखता है—

मन्यन्ते पण्डितास्त्वन्ये यथाव्याकरणं स्वरम्।
व्यवस्थितो व्यवस्थायां हेतुस्तत्र न विद्यते॥
माधवस्य स्वयं पक्षः स्वरेणैव व्यवस्थितिः ॥१।१।२४,२५॥

अर्थात्—अन्य पण्डित मानते हैं कि व्याकरण के अनुसार स्वर की व्यवस्था होती है (स्वर के अनुसार अर्थ की नहीं)। वैयाकरणों के इस कथन में कोई हेतु नहीं है। माधव का तो यही पक्ष है कि स्वर से ही अर्थ की व्यवस्था होती है।

अर्वाचीन वैयाकरणों के मत में 'व्यत्यय' का अर्थ—भगवान् पाणिनि ने व्यत्ययो बहुलम् (अष्टा० ३।१।८५) में व्यत्यय शब्द का व्यवहार किया है। काशिका-वृत्तिकार जयादित्य ने व्यत्यय शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है—

व्यतिगमनं व्यत्ययो व्यतिकरः,[1] विषयान्तरे विधानम्।

हरदत्त ने इस वचन की व्याख्या करते हुए लिखा है—

अन्योऽन्यविषयावगाहनमित्यर्थः। पदमञ्जरी।

इन वचनों का भाव यह है कि व्यत्यय नाम व्यतिगमन, विषयान्तर में विधान अथवा अन्य के विषय में अन्य कार्य का होना अर्थात् विहित नियमों का उल्लंघन। यदि वैयाकरणों का उक्त मत स्पष्ट शब्दों में कहा जाय तो व्यत्यय का अर्थ है—साधु अथवा उचित शब्द स्वरूप के स्थान में असाधु अथवा अनुचित शब्द का प्रयोग।

यह व्यत्यय वचन, विभक्ति, लिङ्ग, कारक, पुरुष, काल, स्वर और वर्ण आदि विषयक अनेकविध होता है।[2] अर्वाचीन वैयाकरणों के मतानुसार

---

१. यह न्यासानुसारी पाठ है। काशिका का मुद्रितपाठ 'व्यतिहारः' है।

२. महाभाष्यकार पतञ्जलि ने इनका परिगणन इस प्रकार किया है—'सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च। व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिद्ध्यति बाहुलकेन'। ३।१।८५॥ इन सब प्रकार के व्यत्ययों

व्यत्यय शब्द का अभिप्राय स्पष्ट करने के लिए हम एक वैदिक उदाहरण देते हैं—

चुषालं ये अश्वयूपाय तक्षति । ऋ० १।१६२।६॥

इस मन्त्र में कर्तृपद ये बहुवचनान्त है, पर कर्तृवाच्य क्रियापद तक्षति एकवचन में प्रयुक्त हुआ है। बहुवचनान्त 'ये' पद का एकवचनान्त 'तक्षति' से अन्वय सम्भव नहीं। अत: वैयाकरणों का कथन है कि यहाँ 'तक्षन्ति' बहुवचन के स्थान में एकवचन का प्रयोग कर दिया है। यदि कोई लौकिक पुरुष ये पुरुषा नगरं गच्छति तेभ्य इदं देहि ऐसा प्रयोग करे तो वैयाकरण झट कह उठेंगे कि यह वाक्य अशुद्ध है। यहाँ 'गच्छन्ति' होना चाहिए। परन्तु ये वैयाकरणमन्य श्रद्धातिरेक के कारण अथवा हमें कोई नास्तिक न कहे, इसलिए वैदिक प्रयोग को साक्षात् अशुद्ध कहने का साहस नहीं करते, परन्तु व्यत्यय की आड़ में उसे अशुद्ध कहने की धृष्टता अवश्य करते हैं।[1]

इस पर प्रश्न किया जा सकता है कि 'व्यत्यय' शब्द का प्रयोग तो स्वयं भगवान् पाणिनि ने किया है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी ऐसा ही व्याख्यान किया है, तब भला अर्वाचीन वैयाकरणों का इसमें क्या दोष?

हमारा कहना है कि निश्चय ही पाणिनि का 'व्यत्यय' शब्द का वह अभिप्राय नहीं है, जो अर्वाचीन वैयाकरण समझते हैं।

व्यत्यय शब्द का शुद्ध अर्थ

व्यत्यय शब्द का मूल अर्थ है 'विहित नियमों का उल्लंघन'। अब सबसे प्रथम प्रश्न उत्पन्न होता है कि पाणिनि द्वारा प्रतिपादित नियम मुख्यतया लौकिक भाषा के हैं अथवा वैदिक लौकिक दोनों के। हमारा कहना है कि पाणिनि के साधारण नियम मुख्यतया लौकिक भाषा को प्रमुखता देकर लिखे गए हैं, और जहाँ वेद में उन नियमों से कुछ भिन्नता प्रतीत हुई, वहाँ उन्होंने बहुल शब्द का अथवा व्यत्यय शब्द का प्रयोग करके छान्दस प्रयोगों के ज्ञान कराने का प्रयत्न किया है। उन्होंने जिस प्रकार लौकिक भाषा के प्रयोगों के लिए व्यव-

---

की मीमांसा के लिए हमारा 'आदिभाषायां प्रयुज्यमानानाम् अपाणिनीय-प्रयोगाणां साधुत्वविवेचनम्' निबन्ध देखना चाहिए॥

१. अर्वाचीन वैयाकरण रामायण-महाभारत तथा अन्य आर्ष ग्रन्थों में प्रयुक्त शिष्ट-प्रयोगों को भी इसी प्रकार कहने की धृष्टता करते हैं। देखिए, 'सं० व्या० शास्त्र का इतिहास' भाग १, पृष्ठ २३॥

स्थित रूप से नियम सूत्रबद्ध किए, उसी प्रकार वैदिक शब्दों के लिए व्यवस्थित नियम नहीं रचे। इससे स्पष्ट है कि पाणिनि के नियम मुख्यतया लौकिक भाषा के हैं, वैदिक के नहीं।[1] इस तत्त्व पर ध्यान देते ही पाणिनि के 'बहुलं' अथवा 'व्यत्यय' पद का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। पाणिनि वेद में लौकिक भाषा के नियमों का व्यतिगमन अथवा उल्लंघन मानते हैं, वैदिक प्रयोगों को वे अशुद्ध नहीं कहते। तदनुसार चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति में लौकिक भाषा के रूप तक्षन्ति के स्थान में तक्षति रूप प्रयुक्त है, इतना ही पाणिनि का अभिप्राय है। पाणिनि ने कहीं साक्षात् नहीं कहा कि इस मन्त्र में प्रयुक्त तक्षति एक वचन का रूप है।[2]

इतना ही नहीं, पाणिनि ने लौकिक भाषा के नियमों को मुख्यता देते हुए उसके समस्त नियमों का भी प्रतिपादन नहीं किया। यदि लौकिक भाषा के उन शिष्ट प्रयोगों को, जिनके लिए पाणिनि ने कोई साक्षात् नियम नहीं लिखे, समझाने की चेष्टा की जाए तो उन लौकिक प्रयोगों में भी वैदिक शब्दों के समान ही व्यत्यय मानना पडेगा। यथा—

१—दास्या सम्प्रयच्छते—इस प्रयोग में पणिनि के किसी साक्षात् नियम के अनुसार तृतीया विभक्ति की प्राप्ति नहीं होती, परन्तु लोक में इस वाक्य में तृतीया का प्रयोग होता है। इस अवस्था में जैसे वेद में चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि (अष्टा० २।३।६२) सूत्र-विहित चतुर्थ्यर्थ में षष्ठी अथवा षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वक्तव्या (भाष्य २।३।६२) वार्तिक-विहित षष्ठ्यर्थ में चतुर्थी को व्यत्यय कहा जाता है, उसी प्रकार दाणश्च सा चेच्चतुर्थ्यर्थे (अष्टा० १।३।५५) सूत्र द्वारा ज्ञापित चतुर्थ्यर्थक तृतीया को भी व्यत्यय ही कहना होगा। क्योंकि 'दास्या सम्प्रयच्छते' में भी चतुर्थी के स्थान में तृतीया का प्रयोग है। इस प्रकार व्यत्यय का क्षेत्र वेद तक सीमित न रह कर लोक तक विस्तृत हो जाता है।

२—जनिकर्तुः प्रकृतिः (अष्टा० १।४।३०), तत्प्रयोजको हेतुश्च (अष्टा० ४।१।५५) इत्यादि पाणिनीय प्रयोगों में तृजकाभ्यां कर्तरि (अष्टा० २।२।१५) अथवा कर्तरि च (अष्टा० २।२।१६) सूत्र से षष्ठी-समास का प्रतिषेध प्रवृत्त होता है। तदनुसार पाणिनि के जनिकर्तु और तत्प्रयोजकः प्रयोगों मे उसके अपने नियम का ही उल्लङ्घन स्पष्ट है। अतः इन प्रयोगों में भी व्यत्यय से ही षष्ठी-समास मानना होगा।

---

१. अष्टाध्यायी के वैदिक प्रयोग-निदर्शक सूत्रों में स्थान स्थान पर 'बहुलं' ग्रहण इसका ज्ञापक है॥

२. इस पर विशेष विचार अनुपद ही आगे किया जायगा॥

३—पाणिनि ने पर शब्द के योग में पञ्चमी विभक्ति का विधान किया है। परन्तु उसके प्रत्ययविधायक पचासों सूत्रों में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग उपलब्ध होता है। यथा—ऋहलोर्ण्यत् (अष्टा० ३।१।१२४) सभी व्याख्याकार यहां पञ्चम्यर्थे षष्ठी लिखते हैं।

इन तीन उदाहरणों से स्पष्ट है कि व्यत्यय का क्षेत्र तो न केवल वेद अथवा आर्ष प्रयोगों तक सीमित है, अपितु पाणिनि का अपना ग्रन्थ भी व्यत्यय की चपेट के अन्तर्गत आ जाता है।

पाणिनि के अपने सूत्र-पाठ में लगभग १०० प्रयोग ऐसे हैं जो उसके अपने लक्षणों के ही विपरीत हैं अथवा उनमें उस के नियमों का उल्लङ्घन (व्यत्यय) उपलब्ध होता है। ऐसी अवस्था में प्रश्न होता है कि क्या ये पाणिनीय प्रयोग भी अशुद्ध हैं? यदि इन्हें अशुद्ध कहने की धृष्टता की जाए तो यही कहना होगा—घोटकारुढस्य घोटको विस्मृतः, अर्थात् घोडे पर सवार व्यक्ति को अपना घोडा ही विस्मृत हो गया। दूसरे शब्दों में कहना होगा—चले थे पाणिनि दूसरों को व्याकरण पढाने और करने लगे स्वयं ही व्याकरण-विरुद्ध प्रयोग।

इस विवेचना से स्पष्ट है की व्यत्यय की कल्पना चाहे वेद में की जाए, चाहे शिष्ट प्रयोगों में, चाहे पाणिनि के स्वप्रयोगों में, सब का मूल कारण पाणिनीय तन्त्र का संक्षिप्त प्रवचन है। व्याकरण शास्त्र के उत्तरोत्तर संक्षिप्त होने से जो जो प्राचीन नियम उत्तरोत्तर छूटते गए, उन उन नियमों से प्रसिद्ध शब्दों के साथ उत्तरोत्तर व्यत्यय की कल्पना संबद्ध होती गई। इसके हम यहां दो उदाहरण देते हैं—

१—काशकृत्स्न-प्रोक्त धातुपाठ में मृ धातु भ्वादिगण में पठित है।[१] तदनुसार उसके मरति मरत मरन्ति प्रयोग लोक में साधु होंगे। और वेद में प्रयुक्त 'मरति' आदि प्रयोगों में व्यत्यय की कल्पना का अवकाश ही नहीं रहेगा। काशकृत्स्न के उत्तरवर्ती पाणिनि ने भ्वादि में मृ धातु नहीं पढ़ा। अत. पाणिनि के मतानुसार वेद में प्रयुक्त 'मरति' आदि प्रयोगों का साधुत्व व्यत्यय द्वारा ही दर्शाया जाएगा।

२—क्षीरस्वामी, दैव-पुरुषकार, दशपादी-उणादिवृत्तिकार आदि पाणिनीय वैयाकरण तथा पाल्यकीर्ति हेमचन्द्र प्रभृति आचार्य भ्वादि में कृञ् धातु का पाठ मानते हैं। इसलिए इन वैयाकरणों के मतानुसार वेद के करति करतः करन्ति प्रयोगों में कोई व्यत्यय-कार्य नहीं है। परन्तु जब सायण ने पाणिनीय धातुपाठ से कृञ् को भ्वादिगण से निकाल दिया[१] और उसके द्वारा परिष्कृत पाठ को ही

---

१. देखिये क्षीरस्वामी विरचित क्षीरतरङ्गिणी पृष्ठ १०३ की तीसरी टिप्पणी, तथा उसी के आदि में सम्बद्ध 'पाणिनीयो धातुपाठः तद्वृत्तयश्च' लेख पृष्ठ १४-१८।

पाणिनीय पाठ मानने वाले उत्तरवर्ती वैयाकरणों को वेद में प्रयुक्त करति करतः करन्ति प्रयोगों में व्यत्यय की कल्पना करनी पडी।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि व्यत्यय का अर्थ **"पाणिनि आदि आचार्यों द्वारा साक्षात् उपदिष्ट नियमों से असिद्ध, किन्तु किन्हीं प्राचीन अथवा नवीन नियमान्तरों से निष्पन्न"** इतना ही समझना चाहिए। इसलिए जहां जहां पाणिनि आदि आचार्यों ने साक्षात् नियम का प्रवचन करके व्यत्यय अथवा बहुल पद द्वारा किन्हीं पदों का साधुत्व दर्शाया वहां वहां उनका अभिप्राय उन प्रयोगों के साक्षात् साधुत्व-निदर्शक नियमान्तर-प्रकल्पना से है।

नियमान्तर-कल्पना का एक उदाहरण

हमने ऊपर **'चषाल ये अश्वयूपाय तक्षति'** मन्त्रांश उद्धृत किया है और दर्शाया है कि यहां अर्वाचीन वैयाकरणों के मतानुसार बहुवचन 'तक्षन्ति' के स्थान में एकवचन 'तक्षति' का प्रयोग हुआ है। वस्तुतः यह बात नहीं है कि बहुवचन 'तक्षन्ति' के स्थान में एकवचन 'तक्षति' प्रयुक्त हुआ है, अपितु 'तक्षन्ति' का जो बहुत्व अर्थ है, उसीमें 'तक्षति' का प्रयोग है। यह बहुवचनार्थक 'तक्षति' प्रयोग भ्वादिगणस्थ तक्ष धातु का नहीं है, उसका 'तक्षति' प्रयोग एकवचन में बनता है। यहां बहुत्व अर्थ विस्पष्ट है। इसलिए पतञ्जलि के **तिङां व्यत्ययः-चषाल ये अश्वयूपाय तक्षति, तक्षन्तीति प्राप्ते** वचन का भी इतना ही अभिप्राय है कि वेद में तिङन्त शब्दों में लौकिक नियमों का अतिक्रमण देखा जाता है। यथा—'चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति' में बहुत्व अर्थ में लौकिक 'तक्षन्ति' के स्थान में वेद में लोक-विलक्षण 'तक्षति' पद प्रयुक्त हुआ है। इसलिए बहुत्ववाचक 'तक्षति' पद जैसे उपपन्न हो जाए, वैसे नियमों की कल्पना कर लेनी चाहिए। तदनुसार यदि तक्ष धातु को अदादि गण में भी मान लिया जाए (जैसे 'मृ' को काशकृत्स्न ने, 'कृञ्' को पाणिनीय और हैम आदि वैयाकरणों ने भ्वादिगण में माना है) तो वेद का 'तक्षति' शब्द बहुवचन में ठीक उसी प्रकार निष्पन्न हो जाएगा जैसे लोक में जक्षति पद निष्पन्न होता है। स्वर भी, जक्ष के समान तक्ष की भी अभ्यास संज्ञा मानकर, **अभ्यस्तानामादि.** (अष्टा० ६।१।१८९) से उपपन्न हो जाएगा। तक्ष का अदादि में पाठ मानने पर किसी प्रकार की कोई क्लिष्ट कल्पना नहीं करनी पडती। इसी प्रकार सभी प्रकार के व्यत्ययों की व्याख्या हो जाती है।

यह है 'व्यत्यय' का वास्तविक अभिप्राय। *इस अभिप्राय को न समझकर पाणिनि के **व्यत्ययो बहुलम्** (अष्टा० ३।१।८५) सूत्र के आधार पर मनमाना

अर्थ करना नितान्त अनुचित है। इसी प्रकार वेद में उचित अथवा साधु शब्द के स्थान पर अनुचित अथवा असाधु पद का प्रयोग मानना या बताना भी अत्यन्त गर्हित है। चाहे इस प्रकार की व्याख्या किसी ने भी क्यों न की हो। पाणिनि आदि महर्षियों का ऐसा अभिप्राय कदापि न था, जैसा उसके व्याख्याता उपस्थित करते हैं। यह हमारे ऊपर के लेख से स्पष्ट है। अतः आधुनिक वैयाकरणों और उनका अन्धानुकरण करने वाले वेदभाष्यकारों की व्यत्यय-विषयक कल्पना नितान्त अशुद्ध है।

व्यत्यय की इस सामान्य विवेचना से स्वर-व्यत्यय की व्याख्या भी जान लेनी चाहिए। अतः हम अन्त में यही कहना चाहते हैं कि वेद में वास्तव में कहीं स्वर-व्यत्यय नहीं है। इसलिए स्वर पर पूरा भरोसा करके उसके अनुसार अर्थ करना चाहिए। पद अथवा वाक्य के जिस अंश में उदात्तत्व विद्यमान हो, उसके अर्थ को प्रमुखता देनी चाहिए। चाहे वह स्वर व्याकरण के वर्तमान नियमों से उपपन्न होता हो अथवा न होता हो। यदि कोई यथावस्थित स्वर के अनुसार अर्थ करने में असमर्थ है तो उसे स्वर-विरुद्ध अर्थान्तर-कल्पना का प्रयास नहीं करना चाहिए। ऐसे स्थानों पर शास्त्र कारों का निम्न वचन सदा ध्यान में रखना चाहिए—

नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति पुरुषापराधः स भवति। यथा जानपदीषु विद्यातः पुरुषविशेषो भवति, पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति। निरुक्त १।१६॥

अर्थात्—यह स्थाणु (सूखे ठूंठ) का अपराध नहीं है, जो उसे अन्धा नहीं देखता। वह [उस अन्धे] पुरुष का अपराध है। जैसे जनपद-सम्बन्धी कृषि आदि कार्यों में विद्या से पुरुष की विशेषता होती है, उसी प्रकार पारोवर्यवित् विद्वानों में बहुश्रुत प्रशस्य होता है।

इस प्रकार वैदिक स्वरों के विषय में संक्षेप से लिखकर अगले अध्याय में संहिता के स्वरों का अङ्कन-प्रकार लिखा जाएगा॥

दशम अध्याय

वैदिक वाङ्मय में प्रयुक्त विविध स्वराङ्कन-प्रकार

पिछले अध्यायों में वैदिक ग्रन्थों में प्रयुक्त होने वाले उदात्त आदि स्वरों का संक्षिप्त परिचय, उनका अर्थ के साथ सबन्ध, वेदार्थ में उनकी उपयोगिता और उन की उपेक्षा से होने वाले दुष्परिणामों का निदर्शन हम भले प्रकार करा चुके।

स्वराङ्कन-प्रकार की विविधता—वैदिक वाङ्मय के जितने ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं उन में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरों का अङ्कन (=सकेत=चिह्न) एक प्रकार का नहीं है। उनमें परस्पर अत्यधिक वैलक्षण्य है। एक ग्रन्थ में जो स्वरित का चिह्न देखा जाता है, वही दूसरे ग्रन्थ में उदात्त का चिंह्न माना जाता है।[1] इसी प्रकार किसी ग्रन्थ में जो अनुदात्त का चिह्न है, वह अन्य ग्रन्थ में उदात्त का चिह्न होता है।[2] साम संहिता का स्वराङ्कन-प्रकार सबसे विलक्षण है। उसके पदपाठ का स्वराङ्कन सहिता के स्वराङ्कन से भी पूर्णतया मेल नहीं रखता। इसलिए वेद के विद्यार्थी को पदे पदे सन्देह और कठिनाई उपस्थित होती है। हम उनकी इस कठिनाई को दूर करने के लिए उपलब्ध वैदिक वाङ्मय में प्रयुक्त विविध स्वराङ्कन-प्रकारों का वर्णन करते हैं।

पूर्व स्वराङ्कन-परिचायक—वैदिक स्वराङ्कन का परिचय देने का प्रयत्न अनेक विद्वानों ने किया है। उन में श्री पं० पद्मनारायण आचार्य,[3] श्री प०

---

१. यथा ऋग्वेद, अथर्ववेद में प्रयुक्त स्वरित चिह्न शीर्षस्थ ⊥ रेखा मैत्रायणी सहिता में उदात्तस्वर के लिए प्रयुक्त होती है॥

२. ऋग्वेद आदि में अनुदात्त के लिए प्रयुक्त नीचे की सरल – रेखा शतपथ ब्राह्मण में उदात्त का चिह्न है॥

३. देखिए "वैदिक स्वर का एक परिचय" लेख, नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग १४, पृष्ठ २८३–३२२॥

धारेश्वर शास्त्री,[1] श्री प० सातवलेकर जी[2] और श्री० प० विश्वबन्धु जी शास्त्री[3] प्रमुख हैं।

अशास्त्रीय और योरोपीय पद्धति का अनुसरण—इन महानुभावों ने स्वराङ्कन-परिचय की जो पद्धति अपनाई है, वह भारतीय शास्त्रानुकूल नहीं है। कतिपय अंशों में शास्त्र-विरुद्ध है। श्री पं० पद्मनारायण आचार्य और श्री प० विश्वबन्धु जी शास्त्री का परिचय-प्रकार योरोपीय पद्धति पर आश्रित है।

शास्त्रीय पद्धति के परित्याग से हानि—शास्त्रीय पद्धति के परित्याग से अथवा योरोपीय पद्धति के आश्रयण करने से साधारण से साधारण विषय न केवल क्लिष्ट तथा सन्देहयुक्त हो जाता है, अपितु उसके आधार पर वेद का सूक्ष्मार्थ भी नष्ट हो जाता है। यथा—

१—श्री प० विश्वबन्धु जी ने स्वरित के दो भेद किए हैं—अनुदात्तभूमि और उदात्तभूमि। उदात्त से परे जो अनुदात्त स्वरित हो जाता है, उसे अनुदात्तभूमि कहा गया है। इससे भिन्न स्वरितों के लिए उदात्तभूमि शब्द का प्रयोग किया है। शास्त्रीय प्रक्रियानुसार जो जात्य, क्षैप्र और प्रश्लेष स्वरित हैं, उन्हें 'उदात्त-भूमि संज्ञा दी है। उदात्त के उत्तरवर्ती अनुदात्त के स्वरित हो जाने पर उसे 'अनुदात्तभूमि' कहना युक्त कहा जा सकता है, क्योंकि उसकी भूमि वस्तुतः अनुदात्त है। परन्तु उन्होंने जिन जात्य, क्षैप्र और प्रश्लेष स्वरितों को उदात्त-भूमि कहा है, उनमें से कोई भी स्वरित ऐसा नहीं है जो मूलतः उदात्त हो और कारणवश उसे स्वरित हो जाता हो। क्षैप्रस्वरित में उदात्त वर्ण के स्थान पर यणादेश होता है और उससे आगे जो अनुदात्त होता है, उसे स्वरित हो जाता है। यथा—तुन्वा॑ अप्स्व१॒न्त'। यतः क्षैप्रस्वरित भी अनुदात्त के स्थान पर ही होता है, अतः वह अनुदात्तभूमि तो कहा जा सकता है, परन्तु उसे उदात्तभूमि नहीं कह सकते। यदि कहा जाए कि उदात्त-स्थानीय यण् स्वरितत्व में कारण है अतः उसे उदात्तभूमि संज्ञा दी है, तो अनुदात्तभूमि स्वरित में भी तो पूर्ववर्ती उदात्त ही कारण होता है, अतः उसे भी उदात्तभूमि कहना चाहिए। प्रश्लेष स्वरित में उदात्त और अनुदात्त दोनों के सम्मिश्रण से स्वरित

---

१. श्री पं० धारेश्वर शास्त्री ने सामसम्बन्धी स्वराङ्कन का निर्देश ८ सूत्रों से दर्शाया है। हमने उनके सूत्र छात्रावस्था में किसी ग्रन्थ से प्रतिलिपि किए थे। ग्रन्थ का नाम इस समय स्मरण नहीं है॥

२. श्री पण्डित जी ने स्वप्रकाशित सामवेद मैत्रायणी संहिता आदि की भूमिका में कतिपय ग्रन्थों का स्वराङ्कन दर्शाया है॥

३. 'वैदिकपदानुक्रमकोष', संहिता भाग के प्रथम खण्ड की भूमिका में॥

होता है, अतः इसे भी उदात्त भूमि नहीं कह सकते। क्वं, शरव्यां, कन्यां आदि में श्रुत जात्य स्वरित को भी उदात्तभूमि संज्ञा देना चिन्त्य है। क्योंकि यहां शास्त्रीय पद्धति के अनुसार न क्षैप्रसन्धि है और न प्रश्लेष। यहां तो अत् और यत् प्रत्यय के तित् होने से स्वभावतः स्वरितत्व है।[1] सम्भवतः श्री पं० विश्वबन्धु जी ने यहां क्रमशः कु अ, शरवी आ, कनी आ इस प्रकार सन्धि की कल्पना की होगी।

२—श्री पद्मनारायण आचार्य ने जात्य, क्षैप्र और प्रश्लेष स्वरित के लिए "स्वतन्त्र स्वरित" शब्द का व्यवहार किया है। जात्य को स्वतन्त्र स्वरित कहना तो युक्त है, परन्तु क्षैप्र और प्रश्लेष सन्धियों के निमित्त से होने वाले स्वरितों (जिनमें उदात्त वर्ण ही कारण बनता है) को स्वतन्त्र स्वरित का नाम देना यथार्थता से आखें मूंदना है।

इस प्रकार शास्त्रीय पद्धति का परित्याग करके श्री पं० विश्वबन्धुजी द्वारा कल्पित 'अनुदात्तभूमि' और 'उदात्तभूमि' तथा श्री पद्मनारायण आचार्य द्वारा कल्पित 'परतन्त्र स्वरित' और 'स्वतन्त्र स्वरित' नामों की यथार्थ व्याख्या न केवल क्लिष्ट ही है अपितु यथार्थता से बहुत दूर है।

वस्तुतः शास्त्रपरिष्कृत मार्ग का परित्याग करने से मनुष्य पदे पदे भूल करता है।

३—श्री वारेश्वर शास्त्री ने सामस्वर का निर्देश करते हुए लिखा है—

उदात्त' स्वरितो विरामे॥

अर्थात्—विराम (अवसान) में उदात्त को स्वरित हो जाता है।[2]

उदात्त और स्वरित दो पृथक् स्वर हैं। स्वरों में उदात्त स्वर मुख्य होता है। अर्थ की दृष्टि से उदात्त स्वर का ही महत्त्व है। वह पद के प्रकृति अथवा प्रत्ययरूपी जिस अंश में वर्तमान रहता है, उसी अंश के अर्थ की प्रधानता होती है। यह हम पूर्व (पृष्ठ ५३-५४) सप्रमाण विस्तारपूर्वक दर्शा चुके हैं। इस दृष्टि से उदात्त स्वर को स्वरित बना देने का अभिप्राय है प्रधान अर्थ को गौण बनाना। यदि वेद में उदात्त स्वर से प्रतीयमान मुख्य अर्थ को गौण बना दिया जाय तो वेद का सूक्ष्म अर्थ नष्ट हो जाता है। इसलिए उदात्त को स्वरित कहना शास्त्रविरुद्ध होने से सर्वथा त्याज्य है।

---

१. 'तित् स्वरितम्'। अष्टा० ६।१।१८५॥

२. भाषिक-सूत्र-नामक परिशिष्ट में भी ऐसी ही अशास्त्रीय पद्धति का आश्रयण किया है। वहाँ अनुदात्त और स्वरित को तथा उदात्त को अनुदात्त कहा है॥

अब हम शास्त्रीय पद्धति के अनुसार वैदिक वाङ्मय में प्रयुक्त विविध स्वराङ्कनों का वर्णन करते हैं—

अथात आम्नाय-स्वराङ्कन-प्रकारः ॥ १ ॥

अब हम आम्नाय = वैदिक वाङ्मय में प्रयुक्त उदात्त आदि स्वरों के विविध अङ्कन प्रकारों का वर्णन करेंगे।

सिद्धवत् पाणिनीयः ॥ २ ॥

इस स्वराङ्कन-प्रकार के विधान में भगवान् पाणिनि द्वारा निर्दिष्ट पद और संहिता स्वर सिद्धवत् माना जायगा। अर्थात् आचार्य पाणिनि ने अपने शब्दानुशासन में जिस पद का जो स्वर दर्शाया है तथा संहिता में जो स्वरित, एकश्रुति और अनुदात्ततर आदि विकार कहे हैं, उनको उसी प्रकार स्वीकार करके स्वराङ्कन-प्रकार का निर्देश किया जाएगा।

आम्नायो द्विविधः, संहिताब्राह्मणभेदात् ॥ ३ ॥

वह आम्नाय संहिता और ब्राह्मण के भेद से दो प्रकार का है।

संहिता नाम से विख्यात ग्रन्थ भी दो प्रकार के हैं, एक वे जिनमें केवल मन्त्रमात्र हैं, यथा—ऋक्संहिता, माध्यन्दिन संहिता[1] आदि। दूसरे वे हैं जिनमें मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का सम्मिश्रण है, यथा—तैत्तिरीय संहिता, मैत्रायणी संहिता।

आरण्यक ब्राह्मण ग्रन्थों के ही परिशिष्ट भाग हैं। ईश को छोड़कर शेष प्राचीन उपनिषदें उन आरण्यकों के ही अन्तर्गत हैं। अतः आरण्यक और उपनिषदों की पृथक् गणना नहीं की।

संहिता द्विविधा, निर्भुजप्रतृणभेदात् ॥ ४ ॥

निर्भुज और प्रतृण भेद से संहिता दो प्रकार की होती है।

निर्भुज शब्द संहिता का वाचक है और प्रतृण पद-संहिता का। ऐतरेय आरण्यक में कहा है—

यद्धि सन्धिं विवर्तयति तन्निर्भुजस्य रूपम्, अथ यच्छुद्धे अक्षरे अभिव्याहरति तत् प्रतृणस्य। ३।१।३॥

इसकी व्याख्या करते हुए सायण ने लिखा है—जो उच्चारण सन्धि अर्थात् पूर्व उत्तर के दोनों पदों के अत्यन्त सन्निकर्ष को विशेषरूप से सम्पादित

---

१ यजुःसर्वानुक्रम में माध्यन्दिन संहिता के 'ब्राह्मण' नाम से दर्शाए भाग भी प्राचीन आचार्यों के मत से मन्त्रात्मक ही हैं। इसकी विशद मीमांसा के लिए हमारा 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'—इत्यत्र कश्चिदभिनवो विचार.' निबन्ध देखना चाहिए। यह हिन्दी में छप गया है॥

करता है वह निर्भुज का रूप है। निर्दिष्ट किए गए हैं भुजा के समान पूर्व-पर-वर्ती शब्द जिस संहितारूप उच्चारण में, वह उच्चारण निर्भुज कहाता है। 'अथ' शब्द पूर्व से विलक्षणता बताने के लिए है जो उच्चारण पूर्व तथा परवर्ती दोनों अक्षरों को शुद्ध = विकाररहित = स्पष्ट रखता है, वह 'प्रतृण' कहाता है।·········प्रतृण शब्द से विच्छिन्न (स्वतन्त्र) शब्द का निर्देश किया जाता है।[1]

क्रम-जटा-घनादयः पदमूलाः ॥ ५ ॥

वैदिक विद्वानों द्वारा पठ्यमान मन्त्रों के क्रम, जटा, घन आदि पाठ पद-मूलक हैं। अर्थात् पदपाठ को आश्रय मानकर ही क्रम आदि पाठ उपपन्न होते हैं।

यद्यपि क्रमपाठ पदमूलक है, पुनरपि उसमें दो दो पदों का सहपाठ होने से पद और संहिता दोनों के सम्मिलित स्वरों का प्रयोग होता है।

वेद के जटा, माला, शिखा, रेखा, ध्वज, दण्ड, रथ, और घन पाठ यद्यपि क्रम-मूलक माने गए हैं, पुनरपि क्रमपाठ के पदमूलक होने से ये भी परम्परा से पदमूलक ही हैं।[2] जटा आदि को अष्ट-विकृति भी कहा जाता है।

इन आठ विकृतियों में जटा और दण्ड प्रधान हैं। जटा के अनुसार शिखा-पाठ होता है और दण्ड के अनुसार माला, लेखा, ध्वज और रथ। घन पाठ जटा और दण्ड उभयानुसारी है।[3]

क्रमपाठ भी क्रमसंहिता के नाम से प्रसिद्ध है। उव्वट ऋक्प्रातिशाख्य २।२ की व्याख्या में लिखता है—

---

१. यद् उच्चारण सन्धिं पदयोरुभयोरत्यन्तसन्निकर्षं विवर्तयति विशेषेण सम्पादयति तदुच्चारण निर्भुजशब्दार्थस्य स्वरूपम्। निर्दिष्टौ भुजसदृशौ पूर्वोत्तर-शब्दौ यस्मिन् संहितारूपे तदुच्चारणं निर्भुजम्। अथ शब्दः पूर्ववैलक्षण्यार्थः। शुद्धे विकाररहिते पूर्वोत्तरे उभे अक्षरे अभिव्याहरति स्पष्टमुच्चारयतीति यदस्ति तत् प्रतृणशब्दाभिधेयस्य पदच्छेदस्य स्वरूपम्।'' प्रतृणशब्देन विच्छिन्न पदमभिधीयते। ऐ० आ० सायणभाष्य ३।१।३॥

२. जटा माला शिखा रेखा ध्वजो दण्डो रथो घनः। अष्टौ विकृतयः प्रोक्ताः क्रमपूर्वा महर्षिभि.। व्याडिविरचित विकृतिवल्ली। चरणव्यूह की महिदासकृतटीका १।५ में उद्धृत॥

३. आसां मध्ये जटादण्डयो. प्राधान्यम्। तत्कथम्? जटानुसारिणी शिखा। दण्डानुसारिणी माला लेखा ध्वजो रथश्च। घनस्तूभयानुसारित्वात्। महि-दासकृत चरणव्यूह टीका १।५॥

सा च द्विविधा सहिता। आर्षी क्रम-सहिता च। आर्षी–अयं देवाय जन्मने (ऋ० १।२०।१)। क्रमसंहिता—पर्जन्याय प्र प्रगायत, गायत दिव (ऋ० क्रम ७।१०।२।१)।

चरणव्यूह के व्याख्याकार महिदास ने इन आर्षी और क्रमसहिता का नाम क्रमशः रूढा और योगा लिखा है।[1]

पञ्चपटलिका ५।१९ में आचार्य-सहिता का निर्देश मिलता है।[2] कौशिक सूत्र ८।२१ पर टीका करते हुए दारिलने आर्षी संहिता और आचार्य संहिता दो भेद दर्शाए हैं।[3]

हम यहाँ केवल मन्त्र-संहिता और पद-सहिता के स्वरों का ही वर्णन करेंगे।

निर्भुजसंहितायास्तावत् ॥ ६ ॥

निर्भुज (मन्त्र-सहिता) और प्रतृण (पद-पाठ) सहिताओं में पहले निर्भुज संहिता के स्वरों का निर्देश करेंगे।

तत्राप्यृग्वेदस्य ॥ ७ ॥

निर्भुज संहिताओं में भी पहले ऋग्वेद के स्वराङ्कन-प्रकार का निर्णय किया जाता है।

अधोरेखयाऽनुदात्तः ॥ ८ ॥

अक्षर[4] के नीचे पडी रेखा से अनुदात्त[5] स्वर का निर्देश किया जाता है। यथा—

---

१ सा द्विविधा, रूढा योगा च। रूढा यथा—अग्निमीळे पुरोहितम् इति। योगा यथा—अग्निमीळे ईळे पुरोहितम् इति ॥

२ आचार्यसहितायां तु पर्यायाणामत परम्। '॥

३. पुनरुक्तप्रयोग' पञ्चपटलिकायां कथितः। आर्षीसहितायाः कर्मयोगात्, आचार्यसहिताऽभ्यासार्था ॥

४. स्वरशास्त्र में अक्षर शब्द शुद्ध स्वर = अच् अथवा व्यञ्जनसहित स्वर का वाचक होता है। देखो-स्वरोऽक्षरम्, व्यञ्जनसहित च। तु० वाज० प्राति० १।९९–१०१॥

५ उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और एकश्रुति स्वरों के विषय में दूसरे अध्याय में विस्तार से लिख चुके हैं ॥

अ॒ग्निमी॑ळे पु॒रोहि॑तम् ऋ० १।१।१॥

यहा 'अ' और 'पु' के नीचे पडी रेखा का निर्देश होने से ये दोनों अनुदात्त हैं। ऐसा ही सर्वत्र समझें।

विशेष ध्यातव्य—यद्यपि स्वर-शास्त्र के अनुसार उदात्त आदि स्वरधर्म अचों (स्वरों) के ही हैं, तथापि यहा स्वरनिर्देश प्रकरण में चिह्नों के ठीक ज्ञान के लिए व्यञ्जन-विशिष्ट अचों (स्वरों) का उल्लेख किया है। उनके निर्देश में अभिप्राय तत्तत् अचों से ही हैं, व्यञ्जनों से नहीं।

ऊर्ध्वरेखया स्वरितः ॥ ९ ॥

अक्षर के ऊपर खडी रेखा से स्वरित का निर्देश किया जाता है। यथा—

अ॒ग्निमी॑ळे पु॒रोहि॑तम् ऋ० १।१।१॥

यहां 'मी' और 'हि' के ऊपर खडी रेखा का चिह्न होने से ये दोनों स्वरित हैं।

स्वरितात् परोऽनङ्कित एकश्रुतिः ॥ १० ॥

स्वरित से परे जिस या जिन अक्षरों पर कोई चिह्न न हो, उन्हें एकश्रुति स्वर वाला समझना चाहिए। यथा—

होता॑रं रत्न॒धात॑मम्। ऋ० १।१।१॥

यहा स्वरित 'ता' से परे 'र' और 'र' दो अक्षरों पर ऊपर नीचे कोई चिह्न नहीं है। इसी प्रकार स्वरित 'त' से परे 'म' पर कोई चिह्न नहीं है। अतः इस उदाहरण में 'र-र-म' ये तीन अक्षर एकश्रुति स्वर वाले हैं, ऐसा समझना चाहिए।

एकश्रुति स्वर के विषय में हम पूर्व (पृष्ठ २० में) लिख चुके हैं कि एकश्रुति में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित इन तीनों उच्चारण-धर्मों का तिरोभाव होता है।[1] कई आचार्य एकश्रुति को उदात्त सम और दूसरे अनुदात्तसम मानते हैं।[2] हमारे विचार में एकश्रुति का उच्चारण अनुदात्त के समान होना चाहिए, क्योंकि एक श्रुति सदा स्वरित के अनन्तर ही होती है और स्वरित के उत्तर

---

१. स्वराणामुदात्तादीनामविभागोऽभेदस्तिरोधानमेकश्रुतिः। काशिका १।२।३३॥

२. महाभाष्य १।२।३३—उदात्ता... .. अनुदात्ता च.. ... ॥

जात्य—र॒थ्यो॑ ३ वय॑स्वतः । ऋ० २।२४।१५॥
क्षैप्र—वि॒क्ष्वा॑ ३ योः (वि॒क्षु + आ॒योः) । ऋ० २।४।२॥
अभिनिहित—प्रथ॒मं वा॑ं वृ॒णा॒नो॑ ३ऽयं सोमः (वृ॒णा॒नः + अ॒यं) । ऋ० १।१०८।६॥

यहाँ स्वरित वर्ण 'थ्यो' 'क्ष्वा' 'नो' के नीचे अनुदात्त का चिह्न लगाया जाता है और इनके आगे ३ पर स्वरित और अनुदात्त दोनों का। इन तीनों स्वरित अक्षरों से परे क्रमशः 'व' 'योः' 'य' अक्षर उदात्त हैं।

विशेष—स्वर-शास्त्र के न जानने वाले अनेक व्यक्ति जात्यादि स्वरितों से आगे प्रयुज्यमान ३ अंक को प्लुत का चिह्न मान कर ऐसे स्थानों पर प्लुत उच्चारण करते हैं, वह शास्त्र-विपरीत है। जहा प्लुत उच्चारण अभीष्ट होता है, वहा ३ संख्या शुद्ध लिखी जाती है, उस पर अन्य कोई चिह्न नहीं होता। यथा—

ओ३ङ्[1] क्रतो स्मर (माध्य० सं० ४०।१५) ॥

दीर्घ जात्यादि के आगे सकेत्यमान ३ संख्या का अभिप्राय पूर्वसूत्र की व्याख्या के अन्त में दर्शा चुके हैं।

अथ कश्मीरार्चिकस्वरः ॥ १६ ॥

अब कश्मीर देश में व्यवहृत ऋग्वेद-सम्बन्धी स्वराङ्कन का प्रकार लिखते हैं।

उदात्त ऊर्ध्वरेखया ॥ १७ ॥

कश्मीर देश के ऋग्वेद-संबन्धी हस्तलेखों में उदात्त स्वर का निर्देश ऊपर खड़ी रेखा से किया जाता है। यथा—

अहं यशस्विनां यशो विश्वा रूपाण्या ददे ।
ऋ० खिल[2] १।१।१॥

इनमें उर्ध्वरेखाङ्कित 'हं-य स्वि य-वि-पा-ण्या' अक्षर उदात्त हैं।

---

१. मुद्रित पाठ 'ओ३म् क्रतो' है। परन्तु संहिता पाठ में मकार को अनुस्वार होकर परसवर्ण होगा। अतः शुद्ध पाठ वही उच्चरित होगा जो हमने ऊपर छापा है॥

२ कश्मीर देशका ऋग्वेद संहिता का कोई पुस्तक साक्षात् देखने में नहीं आया। ऋग्वेद खिल का जो सस्वर पाठ सायणभाष्य पूना संस्करण के अन्त में छपा है, वह कश्मीर-पाठानुसार है, ऐसा सम्पादकों का कथन है॥

जात्यक्षैप्राभिनिहिता ऊर्ध्वं वक्ररेखया ॥ १८ ॥

कश्मीर पाठ में जात्य, क्षैप्र और अभिनिहित स्वरित वर्ण के ऊपर वक्र रेखा का निर्देश किया जाता है।[1] यथा—

जात्य—हंवन्तं मेषान् वृक्यैं। खिल १।२।७॥

क्षैप्र—समधान्वारुवहन् स्वः[2] । खिल १।११।४॥

अभिनिहित—उदाहरण अप्राप्त।

उदात्तपराः कम्पन्ते ॥ १९ ॥

उदात्त अक्षर परे रहने पर जात्य, क्षैप्र और अभिनिहित स्वरित कम्प को प्राप्त होते हैं।

ततः परमधोरेखया त्र्यङ्कः ॥ २० ॥

कम्प को प्राप्त जात्य, क्षैप्र और अभिनिहित स्वरित से परे ३ का अङ्क लिखा जाता है और उसके नीचे पड़ी रेखा लगाई जाती है।[3]

विशेष—ऋग्वेद के पूर्वनिर्दिष्ट स्वर (सूत्र १४-१५) में कम्प को प्राप्त ह्रस्व स्वरित से परे १ सख्या और दीर्घ से परे ३ संख्या का निर्देश होता है, परन्तु कश्मीर-पाठ में ह्रस्व, दीर्घ दोनों से परे ३ सख्या का ही निर्देश उपलब्ध होता है। कारण चिन्त्य है।

---

१ पूना के वैदिक संशोधन मण्डल से प्रकाशित 'ऋग्वेद' सायणभाष्य भाग ४ के अन्त में खिलपाठ (कश्मीर-पाठानुसार) छपा है। उसके सम्पादक महोदय ने भूमिका के पृष्ठ ९०९ पर लिखा है कि इस पाठ में केवल जात्य स्वरित पर ही चिह्न उपलब्ध होता है। यह उनका भ्रम है॥

२ स्व ' पद 'सु + अर्' से बना है। अतः यहां क्षैप्र सन्धि होने से यह क्षैप्र स्वरित है। कुछ लोग 'स्वः' को अव्युत्पन्न मानकर जात्य स्वरित कहते हैं। यह अयुक्त है, क्योंकि शाखान्तर में 'स्व ' का 'सुव ' पाठ मिलता है। (देखो तैत्तिरीय संहिता)। 'सु + अर्' में यण् सन्धि होकर 'स्वः' और 'त्रियम्बकं' आदि के समान यण् व्यवधान सन्धि होकर 'सुवः' प्रयोग बनता है। देखो हमारा 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' भाग १ अ० १ ॥

३ उक्त सायण-भाष्य के साथ प्रकाशित खिल-पाठ के सम्पादक ने पृष्ठ ९०९ पर लिखा है कि 'उदात्त या स्वरित परे होने पर जात्य स्वरित का ३ संख्या से कम्प दर्शाया जाता है' यह भी लेख पूर्णतया ठीक नहीं है। क्षैप्र और अभिनिहित स्वरित का भी ३ से कम्प बताया जाता है॥

जात्य—आपोर्न वज्रिन्नन्वोक्थ्यं ३ सरः । खिल ३।१।३॥
क्षैप्र—सन्ति ह्य ३ र्ये आशिष । खिल ३।६।७॥
यो जाम्या ३ः प्रस्यमदर्धः । खिल ५।१२।२॥
अभिनिहित—परें हीऽतो ३ ध्नास्ये । खिल ४।५।३२॥

विशेष—अन्तिम उदाहरण का पूनामुद्रित पाठ 'परेहितों ३ ध्नास्यें' है। यह अशुद्ध है, क्योंकि मुद्रितपाठ में 'तो' अक्षर पर ⊥ उदात्त चिह्न है। उसके आगे कम्पद्योतक ३ का निर्देश नहीं हो सकता। ३ का निर्देश होने से स्पष्ट है कि उससे पूर्व का 'तो' अक्षर स्वरित है। यह मन्त्र पाठभेद से अथर्व १०।१।२० में भी उपलब्ध होता है। हमने उसकी सहायता से इस पाठ का शोधन किया है।

शेषा अनङ्किताः ॥ २१ ॥

शेषस्वर = अनुदात्त, एकश्रुति और सामान्य (उदात्त से परे विहित) स्वरित पर कोई चिह्न नहीं होता।

विशेष—ऋग्वेद के खिलपाठ का कश्मीर-पाठ "वैदिक संशोधन मण्डल पूना" से प्रकाशित सायणभाष्य के चतुर्थ भाग के अन्त में छपा है। उसमें उपर्युक्त प्रकार से स्वरों का निर्देश उपलब्ध होता है। यह स्वरनिर्देश-प्रकार कुछ भेद से काठक तथा मैत्रायणी संहिता में भी उपलब्ध होता है। उसका निर्देश यथास्थान किया जाएगा। यह भी ध्यान रहे कि ऋग्वेद के खिलपाठ के उक्त संस्करण में स्वर-चिह्न बहुत अशुद्ध लगे हुए हैं।

अथ यजुषाम् ॥२२॥

अब यजुर्वेद सम्बन्धी संहिताओं में प्रयुक्त स्वर-चिह्नों का वर्णन करते हैं।

तानि द्विविधानि शुक्लकृष्णभेदात् ॥२३॥

यजुः संहिताओं के दो भेद हैं। शुक्ल और कृष्ण।

तत्र शुक्लेषु माध्यन्दिनकाण्वावेवोपलभ्येते ॥२४॥

पन्द्रह प्रकार के शुक्ल यजुओं में माध्यन्दिन और काण्व ये दो पाठ ही उपलब्ध होते हैं।

कृष्णेषु तैत्तिरीयमैत्रायणीकाठककपिष्ठलकठाः ॥२५॥

छियासी प्रकार के कृष्ण यजुओं में तैत्तिरीय, मैत्रायणी, काठक और कपिष्ठल कठ ये चार ही पाठ मिलते हैं।

इस प्रकार १०१ प्रकार की याजुष संहिताओं में केवल ६ संहिताएँ ही सम्प्रति उपलब्ध हैं।

माध्यन्दिने उदात्तानुदात्तैकश्रुतिसामान्यस्वरिता ऋग्वेदवत् ॥२६॥

शुक्ल यजुः के माध्यन्दिन पाठ में उदात्त, अनुदात्त, एकश्रुति और सामान्य स्वरित का निर्देश ऋग्वेद के समान ही किया जाता है।

यथा—इ॒षे त्वो॒र्जे त्वा॑ वा॒यव॑ स्थ ।१।१॥

यहाँ नीचे आडी रेखा से अङ्कित 'इ-त्वो-वा' अनुदात्त हैं (सूत्र ८)। ऊपर खड़ी रेखा से चिह्नित 'त्वा-व' स्वरित हैं (सूत्र ९)। स्वरित 'व' से परे बिना चिह्न का 'स्थ' एकश्रुति स्वर वाला है (सूत्र १०)। अनुदात्त 'इ-त्वो-वा' से परे क्रमशः चिह्नरहित 'षे-र्जे-य' उदात्त हैं (सूत्र ११)।

अनुदात्तात्परा जात्यक्षैप्रप्रश्लेषाभिनिहिता अधोवक्ररेखया ॥२७॥

अनुदात्त से परे जात्य, क्षैप्र, प्रश्लेष और अभिनिहित स्वरित का निर्देश नीचे ⌊ ऐसी वक्ररेखा से किया जाता है। यथा—

जात्य—वी॒र्याणि॒ प्र वो॑चं॒ यः ।५।१८॥

क्षैप्र—द्यौर॑सि पृथि॒व्य॒सि ।१।२॥

प्रश्लेष—अ॒भीन्धतामु॒खे॒ वस्त्री॒ष्ठा ।११।६१॥

अभिनिहित—घ॒र्मो॒ऽसि ।१।२॥ व॒धो॒ऽसि ।१।२८॥

जब क्षैप्र स्वरित अनुदात्त से परे नहीं होता, तब इसे सामान्य स्वरित के समान ऊर्ध्व रेखा से ही अङ्कित करते हैं। यथा—

त्र्य॑म्बकं यजामहे (३।६०)। अर्चु॑देवं त्र्य॑म्बकम् (३।५८)। उ॒र्व्या व्य॑द्यौत् (१२।१)

उदात्तपरा अधस्तात् ꣳ चिह्नेन ॥ २८ ॥

यदि जात्य, क्षैप्र, प्रश्लेष और अभिनिहित स्वरित से परे उदात्त वर्ण हो तो इन के नीचे त्रिशूल सदृश ꣳ चिह्न का निर्देश किया जाता है। यथा—

जात्य—वेदु॒स्त्यु॒मव॑तां स्वा ।२।६॥

क्षैप्र—उ॒र्व॒न्तरि॑क्ष॒मन्वे॑मि ।१।७,११॥

अभिनिहित—पार्शैर्योऽस्मान् द्वेष्टि यं च ।१।२५।।

लोकेऽस्मिन् ।३।२१।।

स्पष्टीकरण—जात्य, क्षैप्र, प्रश्लेष और अभिनिहित स्वरित से परे जहां अनुदात्त या एकश्रुति स्वर होता है अथवा जहां कोई भी वर्ण आगे नहीं होता, वहां इनका निर्देश नीचे ⌊ ऐसी वक्र (टेढी) रेखा से किया जाता है। और जहां इन से परे उदात्त स्वर होता है, वहां नीचे ‿ चिह्न लगाया जाता है।

विशेष—यजुर्वेद १८।५० में पाठ है—

स्वर्ण घर्मः स्वाहा । स्वर्णार्कः स्वाहा । स्वर्ण शुक्रः स्वाहा ।
स्वर्ण ज्योतिः स्वाहा । स्वर्ण सूर्यः स्वाहा ।।

इस में प्रथम जात्य अथवा क्षैप्र[1] 'स्व' पद में उदात्त 'न' (ण) परे रहने पर नीचे ‿ चिह्न उपलब्ध नहीं होता, अनुदात्त के समान पडी रेखा ही उपलब्ध होती है। परन्तु आगे सर्वत्र 'स्वर्ण' में स्व के नीचे यथार्थ ‿ चिह्न उपलब्ध होता है। यह वैषम्य अभी तक हमारी समझ में नहीं आया।

कम्पाभावो यजुष्षु सर्वत्र ।। २९ ।।

यजुर्वेद की उपलब्ध सभी संहिताओं में ऋग्वेद के समान उदात्त परे रहने पर जात्य आदि कम्पित नहीं होते।

काण्वे जात्यक्षैप्रप्रश्लेषाभिनिहिता अनुदात्तपरा शीर्षस्थोर्ध्व-रेखया ।। ३० ।।

काण्व-पाठ में जात्य, क्षैप्र, प्रश्लेष और अभिनिहित स्वरित से परे उदात्त न हो, अर्थात् अनुदात्त एकश्रुति अथवा विराम हो तो इनका निर्देश ऋग्वेद के समान शीर्षस्थ उर्ध्वरेखा से किया जाता है। यथा—

जात्य—वीर्याणि प्र वोचं यः ।५।५।६।।

क्षैप्र—द्यौरसि पृथिव्यसि ।१।२।१।।

प्रश्लेष—अभीन्धतामुखे ।१२।६।२।।

---

१. देखो सूत्र १८ के उदाहरणस्थ 'स्व' पद की टिप्पणी ।।

अभिनिहित— घर्मोऽसि ।१।२।१।। वधोऽसि ।१।९।६।।

उदात्तपरा अधस्ताद् रेखया ॥ ३१ ॥

जब जात्य, क्षैप्र, प्रश्लेष और अभिनिहित स्वरितों से परे उदात्त वर्ण हो इन का निर्देश नीचे पडी रेखा (अनुदात्त चिह्न) से ही किया जाता है। ा—

जात्य—वीर्यं मयि धेहि ।२१।१।८।।

क्षैप्र—उर्वन्तरिक्षमन्वेमि ।१।३।३।।

अभिनिहित—योऽस्मान् द्वेष्टि यं च ।१।६।४।।

यहा उदात्त परे रहने पर क्रमशः जात्य 'यँ', क्षैप्र 'वें' और अभिनिहित ो' नीचे आडी रेखा से अङ्कित किए गए हैं।

विशेष—(क) प्रतीत होता है कि जात्यादि स्वरितों के विषय में भी साधार- तया वही नियम आश्रित किया गया है, जो सामान्य स्वरित में आश्रित किया ाता है। उदात्त से परे अनुदात्त को जो स्वरित कहा गया है (उदात्तादनु- ात्तस्य स्वरितः। अष्टा० ८।४।६६), वह उदात्त स्वर परे रहने पर नहीं होता नोदात्तस्वरितोदयम्०। अष्टा० ८।४।६७)। इसी प्रकार काण्व में भी यह ंयम जान लेना चाहिए कि उदात्त परे रहने पर जात्यादि स्वरित भी स्वरित ाहीं होते, अनुदात्त ही रहते हैं।

(ख) सूत्र २८ के विशेष वक्तव्य में हमने माध्यन्दिन संहिता का जो पाठ उद्धृत किया था, उसका काण्व-पाठ इस प्रकार है—

स्वर्ण घर्मः स्वाहा स्वर्णार्कः स्वाहा स्वर्ण शुक्रः स्वाहा।
स्वर्ण ज्योतिः स्वाहा स्वर्ण सूर्यः स्वाहा ।।२२।२।१३।।

यहाँ सर्वत्र उदात्त परे रहने पर जात्य अथवा क्षैप्र स्वरित 'स्व' का निर्देश नीचे पड़ी रेखा से किया है। पूर्व उद्धृत माध्यन्दिन-पाठ में प्रथम 'स्वर्ण' में भी 'स्व' के नीचे पडी रेखा ही है। क्या वह काण्व-पाठ का प्रभाव है?

(ग) काण्वसंहिता के किसी किसी हस्तलेख में माध्यन्दिन पाठ के समान भी जात्य आदि स्वरितों का निर्देश उपलब्ध होता है[1]।

---

१. वैदिक पदानुक्रम कोष, संहिता भाग, खण्ड १, भूमिका पृष्ठ CXIX (११९)॥

अभिनिहित—पाशैर्योऽस्मान् द्वेष्टि यं च ।१।२५॥

लोकेऽस्मिन् ।३।२१॥

स्पष्टीकरण—जात्य, क्षैप्र, प्रश्लेष और अभिनिहित स्वरित से परे जहां अनुदात्त या एकश्रुति स्वर होता है अथवा जहां कोई भी वर्ण आगे नहीं होता, वहां इनका निर्देश नीचे ⌞ ऐसी वक्र (टेढी) रेखा से किया जाता है। और जहा इन से परे उदात्त स्वर होता है, वहा नीचे ‿ चिह्न लगाया जाता है।

विशेष—यजुर्वेद १८।५० में पाठ है—

स्वर्णं घर्मः स्वाहा । स्वर्णार्कः स्वाहा । स्वर्णं शुक्रः स्वाहा । स्वर्णं ज्योतिः स्वाहा । स्वर्णं सूर्यः स्वाहा ॥

इस में प्रथम जात्य अथवा क्षैप्र[1] 'स्व' पद में उदात्त 'न' (ण) परे रहने पर नीचे ‿ चिह्न उपलब्ध नहीं होता, अनुदात्त के समान पडी रेखा ही उपलब्ध होती है। परन्तु आगे सर्वत्र 'स्वर्ण' में स्व के नीचे यथार्थ ‿ चिह्न उपलब्ध होता है। यह वैषम्य अभी तक हमारी समझ में नहीं आया।

कम्पाभावो यजुष्षु सर्वत्र ॥ २६ ॥

यजुर्वेद की उपलब्ध सभी संहिताओं में ऋग्वेद के समान उदात्त परे रहने पर जात्य आदि कम्पित नहीं होते।

काण्वे जात्यक्षैप्रप्रश्लेषाभिनिहिता अनुदात्तपरा शीर्षस्थोर्ध्व-रेखया ॥ ३० ॥

काण्व-पाठ में जात्य, क्षैप्र, प्रश्लेष और अभिनिहित स्वरित से परे उदात्त न हो, अर्थात् अनुदात्त एकश्रुति अथवा विराम हो तो इनका निर्देश ऋग्वेद के समान शीर्षस्थ उर्ध्वरेखा से किया जाता है। यथा—

जात्य—वीर्याणि प्र वोचं यः ।५।५।६॥

क्षैप्र—द्यौरसि पृथिव्यसि ।१।२।१॥

प्रश्लेष—अभीन्धतामुखे ।१२।६।२॥

---

1. देखो सूत्र १८ के उदाहरणस्थ 'स्व' पद की टिप्पणी ॥

देवस्य त्वा सवितुः ।१।२॥

जात्यक्षैप्रप्रश्लेषाभिनिहिता अधस्तादर्धचन्द्रेण ॥ ३७ ॥

जात्य, क्षैप्र, प्रश्लेष और अभिनिहित स्वरित नीचे अर्धचन्द्र चिह्न से अङ्कित किए जाते हैं। यथा—

जात्य—निष्टक्व्यं बध्नाति । २४।५॥

वीर्यमभि समियात् । २४।५॥

क्षैप्र—व्युद्धा वा । २४।४।

प्रश्लेष—उर्वन्तरिक्षं वीहि । १।४॥

उदात्तपरा अधस्तात् ω चिह्नेन ॥ ३८ ॥

उदात्तवर्ण परे रहने पर जात्य, क्षैप्र, प्रश्लेष और अभिनिहित स्वरित नीचे चिह्न से चिह्नित किए जाते हैं। यथा—

जात्य—उक्थाव्युं यंत्त इन्द्र । ४।५॥

क्षैप्र—उर्वन्तरिक्षम् । १।२,४॥

प्रश्लेष—वीहीन्द्रस्य । १।२॥ ह्रीमाः ।२४।४॥

अभिनिहित—प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्याम् । १।२॥

विशेष—श्री पं० विश्वबन्धु जी के निर्देशानुसार उदात्तपरक स्वरित के नीचे हस्तलेखों में आडी रेखा होती है। यथा—

प्रसवेऽश्विनोः । २।६॥

उदात्तात् परः स्वरितोऽधस्ताद् बिन्दुना ॥३६॥

उदात्त से परे जो स्वरित होता है, उसके नीचे बिन्दु लगाया जाता है।[1] यथा—

(इसका वास्तविक नाम अज्ञात है) के उपलब्ध होने से इसका चरण नाम से ही व्यवहार होने लग गया। अभी कुछ वर्ष हुए, इस चरण की कपिष्ठल शाखा का भी एक खण्डित हस्तलेख उपलब्ध हुआ था। उसके आधार पर लाहौर से इसका प्रकाशन हो चुका है॥

1. वैदिक पदानुक्रम कोष, संहिता भाग, खण्ड १, भूमिका पृष्ठ १२१॥

कपिष्ठलकठे सर्वं काण्ववत् ॥३२॥

कपिष्ठलकठ संहिता में सारा स्वराङ्कनप्रकार काण्वसंहिता के समान ही उपलब्ध होता है।

उदात्तपरौ ह्रस्वौ जात्यक्षैप्रौ दीर्घौ ॥३३॥

कपिष्ठलकठ में ह्रस्व जात्य और क्षैप्र स्वरित उदात्त परे रहने पर दीर्घ हो जाते हैं। यथा—

उ॒र्वा॑न्तरि॑क्षम् ।१।२॥ अ॒प्स्वा॑न्तः ।४८।४॥

विशेष—कपिष्ठलकठ का स्वराङ्कन-प्रकार हमने श्री पं० विश्वबन्धु जी के वैदिक कोष संहिता भाग के प्रथम खण्ड की भूमिका (पृष्ठ ११९) के अनुसार किया है। श्री डा० रघुवीर जी द्वारा प्रकाशित कपिष्ठलकठ में स्वरचिह्न तथा उदात्तपरक ह्रस्व जात्य तथा क्षैप्र दीर्घ उपलब्ध नहीं होते। इसलिए हम पूरा विवेचन नहीं कर सके।

तैत्तिरीये चोदात्तपरान् जात्यादीन् वर्जयित्वा ॥३४॥

तैत्तिरीय[1] पाठ में उदात्त आदि स्वरों का निर्देश काण्व-पाठ के समान ही है, उदात्त परे है जिन से ऐसे जात्य, क्षैप्र, प्रश्लेष और अभिनिहित स्वरित को छोड़कर।

उदात्तपरा अपि जात्यादयः शीर्षस्थोर्ध्वरेखया ॥३५॥

जिन जात्य, क्षैप्र, प्रश्लेष और अभिनिहित स्वरित से परे उदात्त हो वह स्वरित भी तैत्तिरीय संहिता में ऊपर खड़ी रेखा से[1] अङ्कित किया जाता है।

स्पष्टीकरण—तैत्तिरीय संहिता में स्वरितमात्र ऊर्ध्व खड़ी रेखा से अङ्कित होता है।

काठके उदात्तः शीर्षस्थोर्ध्वरेखया ॥३६॥

काठक[2] संहिता में उदात्त स्वर शीर्षस्थ उर्ध्वरेखा से चिह्नित होता है। यथा—

---

१. वस्तुतः तैत्तिरीय नाम चरण का है, शाखा का नहीं, यथा शुक्ल यजुर्वेद का वाजसनेय। तैत्तिरीय चरण की आपस्तम्ब, बौधायन, भरद्वाज आदि ८ शाखाएं थीं। उनमें से केवल एक, आपस्तम्ब शाखा शेष रह गई और सब लुप्त हो गईं। अतः आपस्तम्ब शाखा ही चरण (तैत्तिरीय) नाम से व्यवहृत होने लग गई॥

२ 'काठक' चरण का नाम है शाखा का नहीं। काठक चरण में चारायणीय, कपिष्ठक आदि १२ शाखाएं थीं। उनमें से एक-मात्र शाखा

देवस्य त्वा सवितुः ।१।२॥

जात्यक्षैप्रप्रश्लेषाभिनिहिता अधस्तादर्धचन्द्रेण ॥ ३७ ॥

जात्य, क्षैप्र, प्रश्लेष और अभिनिहित स्वरित नीचे अर्धचन्द्र चिह्न से अङ्कित किए जाते हैं। यथा—

जात्य—निष्टक्र्यं बध्नाति । २४।५॥

वीर्यमभि समियात् । २४।५॥

क्षैप्र—व्यृद्धा वा । २४।४।

प्रश्लेष—उर्वन्तरिक्षं वीहि । १।४॥

उदात्तपरा अधस्तात् ७ चिह्नेन ॥ ३८ ॥

उदात्तवर्ण परे रहने पर जात्य, क्षैप्र, प्रश्लेष और अभिनिहित स्वरित नीचे चिह्न से चिह्नित किए जाते हैं। यथा—

जात्य—उक्थाव्यं यंस्त इन्द्र । ४।५॥

क्षैप्र—उर्वन्तरिक्षम् । १।२,४॥

प्रश्लेष—वीहीन्द्रस्य । १।२॥ हीर्माः ।२४।४॥

अभिनिहित—प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्याम् । १।२॥

विशेष—श्री पं० विश्वबन्धु जी के निर्देशानुसार उदात्तपरक स्वरित के नीचे हस्तलेखों में आडी रेखा होती है। यथा—

प्रसवेऽश्विनोः । २।६॥

उदात्तात् परः स्वरितोऽधस्ताद् बिन्दुना ॥३६॥

उदात्त से परे जो स्वरित होता है, उसके नीचे बिन्दु लगाया जाता है।[1] यथा—

(इसका वास्तविक नाम अज्ञात है) के उपलब्ध होने से इसका चरण नाम से ही व्यवहार होने लग गया। अभी कुछ वर्ष हुए, इस चरण की कपिष्ठल शाखा का भी एक खण्डित हस्तलेख उपलब्ध हुआ था। उसके आधार पर लाहौर से इसका प्रकाशन हो चुका है॥

१. वैदिक पदानुक्रम कोष, संहिता भाग, खण्ड १, भूमिका पृष्ठ १२१॥

कम्पितोऽधस्तात् सरलरेखया, ततः पूर्वं त्र्यङ्कश्च ॥४८॥

पूर्वनिर्दिष्ट कम्पधर्मयुक्त स्वरित के नीचे सीधी रेखा का चिह्न किया जाता है और उससे पूर्व ३ का अङ्क लिखा जाता है। यथा—

जात्य—नैकमेकं पितृदेव३स्यं तद् ।१।४।१०॥

स्रुक् का३र्योनैन वा ।१।८।१॥

क्षैप्र—मूर्ध्ना हराम्यु३र्वन्तरिक्ष९ वीद्यदित्यास्त्वा ।१।१।२॥

प्रश्लेष—उ३र्वन्तरिक्ष ९ ३वीहीत्यन्तरिक्ष······।३।१०।१॥

अभिनिहित—अ३जोऽस्यैकपादहिरसि ।१।२।१२॥

···सवितुः प्रस३वेऽश्विनोः ।१।२।१५॥

विशेष—(१) कहीं कहीं उदात्त परे रहने पर 'स्वर्' कम्प के विना भी नीचे सरल (सीधी) रेखा से अङ्कित किया जाता है। यथा—

स्वर्विदसि···।१।२।१५॥

यहां पाठ की अशुद्धि है, अथवा यही चिह्न अभिप्रेत है, यह विचारणीय है।[2]

(२) पूर्वपदान्त अनुदात्त से परे पदादि उदात्त के साथ प्रश्लेष अथवा अभिनिहित सन्धि होने पर एकादेश उदात्तेनोदात्त. (अ० ८।२।५) से उदात्त सन्धि होती है। पूर्वपदान्त उदात्त हो और अगला पदादि अनुदात्त हो तब एकादेश शाखाभेद से स्वरित होता है—स्वरितो वाऽनुदात्ते पदादौ (अ० ८।२।६)। परन्तु मैत्रायणी संहिता में पूर्वपदान्त अनुदात्त से परे पदादि उदात्त के साथ अभिनिहित सन्धि होने पर स्वरितत्व होता है। यथा—

---

१. प्रश्लिष्ट स्वरित के उदाहरण में 'वि + इहि' में 'वि' उदात्त और 'इ' अनुदात्त होने से 'ई' प्रश्लिष्ट स्वरित है, परन्तु यहां 'वी' उदात्त कैसे हुआ, यह विचारणीय है। सम्भव है पाठ की अशुद्धि हो। उत्तर प्रश्लेष के उदाहरण में 'वीहि' का स्वर ठीक है॥

२. द्रष्टव्य सूत्र २८ का विशेष वक्तव्य, तथा ३१ सूत्र की व्याख्या॥

नमोऽस्त्यद्भ्यो……।२।६।४॥

यहा 'नमः' का 'मः' अनुदात्त है, 'अस्त्यद्भ्यः' का अकार उदात्त। दोनों का एकादेश 'ओ' स्वरित हुआ। तैत्तिरीय संहिता में 'मो' उदात्त देखा जाता है। यथा—

नमोऽस्त्यद्भ्यो……(४।५।३)

यहा यह भी ध्यान रखना चाहिए कि सूत्र ४६ से एकश्रुतिपरक अभिनिहित स्वरित को नीचे ˘ अर्धचन्द्र से निर्देश करने का विधान किया है, वह वहीं होता है जहा पूर्वपदान्त उदात्त और पदादि अनुदात्त की अभिनिहित सन्धि होती है। अत एव यहा 'मो' का निर्देश ˘ अर्ध चन्द्र से न होकर सूत्र ४४ से वक्ररेखा से निर्देश किया जाता है। अथवा सूत्र ४७ के विधान में 'अनुदात्त से परे' इतना और जोड़ देना चाहिए 'नमोऽस्त्यद्भ्यः' में उदात्त से परे है। इस लिए कोई दोष नहीं।

(३) ऋग् और अथर्व संहिताओं में ह्रस्व कम्पित स्वरित से परे १ संख्या तथा दीर्घ से परे ३ संख्या का निर्देश किया जाता है (देखो तत्तत् प्रकरण के सूत्र)। ऋग्वेद के खिलपाठ के कश्मीर-संस्करण में ह्रस्व और दीर्घ दोनों प्रकार के कम्पित स्वरितों में ३ संख्या का उल्लेख मिलता है (देखो सूत्र २०)। परन्तु मैत्रायणी संहिता में ३ का अङ्क ह्रस्व और दीर्घ कम्पित स्वरित के उत्तर न लिखा जाकर उस से पूर्व लिखा जाता है। यह अत्यधिक वैलक्षण्य है। कपिष्ठल कठ में ऐसे ह्रस्व स्वरित से परे या पूर्व ३ का अक तो नहीं लिखा जाता, परन्तु वहा ह्रस्व स्वरित को दीर्घ ही उच्चारण किया जाता है (देखो सूत्र ३३)। इस तुलना से प्रतीत होता है कि ऋग्वेद के कश्मीर-पाठ—कपिष्ठलकठ तथा मैत्रायणी संहिता का परस्पर कोई घनिष्ठ सम्बन्ध है। ऋग्वेद के कश्मीरपाठ, काठक और मैत्रायणी संहिता में उदात्त के लिए शीर्षस्थ खड़ी रेखा का समान चिह्न भी हमारे इस अनुमान का पोषक है।

अथ सामवेदस्य ॥ ४८ ॥

अब सामवेद की संहिता में प्रयुक्त स्वराङ्कन-प्रकार का वर्णन किया जाता है।

सामवेद की कौथुमी और जैमिनीया दो संहिताएं प्रसिद्ध हैं। उनमें जैमिनीय-संहिता स्वररहित ही प्रकाशित हुई है। अत. यहा कौथुम-संहिता का ही स्वराङ्कन-प्रकार लिखा जाता है।

उदात्त एकाङ्केन ॥ ५० ॥

सामसंहिता में उदात्त '१' संख्या से अङ्कित किया जाता है। यथा—

२ ३ १ २
अग्न आ याहि। पू० १।१।१॥

यहां 'आ, उपसर्ग उदात्त है।

यह सामान्य सूत्र है। अवसाने द्व्यङ्केन (सूत्र ५२) इत्यादि सूत्रों से इसका अपवाद कहेंगे। 'उदात्त' का अधिकार सूत्र ५५ तक है।

अनेकोदात्तत्वे प्रथम एव यथायथम् ॥ ५१ ॥

जहां अनेक उदात्त एक साथ प्रयुक्त होते हैं, वहां पहले उदात्त पर ही संकेत किया जाता है, अगले बिना निर्देश के ही रहते हैं। 'यथायथम्' कहने से जहां उदात्त स्वर का '१' एक संख्या से निर्देश होना हो, वहाँ एक संख्या से और जहां '२' संख्या से निर्देश (सूत्र ५२—५४) होना हो, वहां दो संख्या से होता है। यथा—

३ १र २र १ २
पाहि विश्वस्या अरातेः। पू० १।१।६॥

३ १र २र
ब्रह्मा कस्त सपर्यति। पू० २।५।८॥

३ २
चिता गोः। पू० ५।८।२॥

३ २
महाँ हि षः। पू० ४।१०।१॥

यहां प्रथम उदाहरण में 'हि—वि' दो उदात्त हैं, दूसरे में 'ह्मा—कस्—त' तीन। तृतीय में 'ता—गोः' दो और चतुर्थ में 'हाँ—हि—षः' तीन उदात्त हैं। तृतीय चतुर्थ उदाहरणों में सूत्र ५२ से उदात्त का '२' संख्या से निर्देश का विधान किया जायगा।

स्वरितपरेषु च सरेफः ॥५२॥

सूत्र ५० से 'प्रथमः' की अनुवृत्ति आती है। जिन उदात्तों से परे स्वरित होता है, उनमें प्रथम उदात्त पर '१' संख्या के साथ 'र' का संकेत भी किया जाता है। यथा—

३ १र २र १ २
पाहि विश्वस्या अरातेः। पू० १।१।६॥

३ १र २र
त्रस्या कस्तं सपर्यति । पू० २।५।८॥

यहां क्रमशः 'हि' और 'क्षा' पर '१ र' का संकेत इसलिए है कि इनसे परे क्रमशः 'श्व' 'स' स्वरित हैं। सूत्र में 'स्वरित परे रहने पर' इसलिए कहा

३ २
है कि चिता गोः (पू० ५।८।२) में स्वरित परे न होने से 'र' का निर्देश नहीं होता।

विशेष—किन्हीं किन्हीं मुद्रित ग्रन्थों में स्वरित परे रहने पर प्रथम उदात्त पर 'र' का निर्देश नहीं मिलता।

अवसाने द्व्यङ्केन ॥५३॥

अवसान = विराम से पूर्व उदात्त '२' संख्या से निर्दिष्ट होता है। यथा—

१ २ ३ २
विश्वेषां हितः । पू० १।१।२॥

यहां 'तः' उदात्त से परे विराम है।

अवसान से पूर्व एक साथ अनेक उदात्त होने पर सूत्र ५० के नियम से प्रथम उदात्त पर ही '२' संख्या का निर्देश किया जाता है। यथा—

१ २ ३ २
चिता गोः । पू० ५।८।२॥ महाँ हि षः । पू० ४।१०।१॥

यहां प्रथम उदाहरण में अवसान से पूर्व 'ता-गोः' दो उदात्त हैं और द्वितीय में 'हाँ-हि-पः' तीन।

अनुदात्तपरश्च ॥५४॥

अनुदात्त परे है जिससे ऐसा उदात्त '२' संख्या से निर्दिष्ट होता है।

२ ३ १ २
अग्न आ याहि । पू० १।१।१॥

यहां उदात्त 'अ' से परे अनुदात्त 'ग्न' है। सूत्र में 'अनुदात्तपर' का ग्रहण इसलिए किया है कि

१ २ ३ १र २र
इन्दो समुद्रमा विश । उ० ५ (१) १५।२॥

यहां 'न्दो' स्वरित परे रहने के कारण उदात्त 'इ' पर '२' संख्या का संकेत नहीं किया जाता।

अनुदात्तपरेषु प्रथमः सोकारेण ॥ ५५ ॥

अनुदात्त परे हैं जिनसे ऐसे उदात्तों में प्रथम उदात्त उकार सहित '२' संख्या से निर्दिष्ट होता है। यथा—

२उ ३ २ ३
आदित् प्रत्नस्य० पू० । १।२।१० ॥

३ २उ ३ १
गिरा मना जाता० । पू० ।१।५।८ ॥

यहां प्रथम उदाहरण में 'आ-दित्' दो उदात्त हैं, उन से परे 'प्र' अनुदात्त है। द्वितीय उदाहरण में 'रा-म-मा' तीन उदात्त हैं, उन से परे 'जा' अनुदात्त है। सूत्र में अनुदात्तपर इसलिए रखा है कि

३ २
चिता गोः । पू० १।५८ ॥

में 'ता-गो' उदात्तों से पर अनुदात्त न होने से '२' के साथ 'उ' का निर्देश नहीं होता।

स्वरितो द्व्यङ्केन ॥ ५६ ॥

साम संहिता में स्वरित का '२' संख्या से निर्देश किया जाता है। यथा—

२ ३ १ २
अग्न आ याहि । पू० १।१।१ ॥

यहां 'या' स्वरित के ऊपर '२' का चिह्न किया है।

विशेष—(१) 'द्व्यङ्केन' पद की अनुवृत्ति होने पर भी 'द्व्यङ्केन' का पुनः निर्देश उदात्त अधिकार की समाप्ति-ज्ञान के लिए है। स्वरित का अधिकार सूत्र ५९ तक चलेगा।

(२) अनेकविध स्वरितों में से क्षैप्र आदि विशिष्ट स्वरितों के अङ्कन के विषय में आगे विशेष विधान किया जाएगा। अतः इस सूत्र में सामान्य स्वरित का ही उदाहरण दिया है।

अनेकोदात्तात् परः सरेफेण ॥५७॥

अनेक उदात्तों से परे जो स्वरित है, वह 'र' सहित '२' संख्या से निर्दिष्ट किया जाता है। यथा—

३ १र २र १ २
पाहि विश्वस्या अरातेः ।पू० १।१।६॥

२ १र २र
ऱ्ह्मा कस्तं सपर्यति । पू० २।५।८॥

यहाँ प्रथम उदाहरण में 'हि–वि' दो उदात्तों से परे 'श्व' स्वरित है और द्वितीय में 'ह्मा-क-स्तं' तीन उदात्तों से परे 'स' स्वरित है।

अनुदात्तैकश्रुत्यवसानेषु क्षैप्रजात्यप्रश्लेषाभिनिहिताश्च, न चेदुदात्तात् पराः ॥५७॥

अनुदात्त, एकश्रुति और विराम परे होने पर जो क्षैप्र-जात्य-प्रश्लेष-अभिनिहित स्वरित हैं, वे रेफविशिष्ट २ अंक से निर्दिष्ट होते हैं, यदि क्षैप्र आदि उदात्त से परे न हों।

विशेष—यहा यथासम्भव उदाहरण समझने चाहिएँ। यथा—

क्षैप्र अनुदात्त परे रहने पर—

३क २र ३ २र
तन्वा गिरा । पू० १।५।८॥

एकश्रुति परे रहने पर—

२र ३
न्यस्मिन् दध्र० । उ० १ (२)।५।८॥

अवसान (विराम) परे—

३क २र
० दुराध्यम् । पू० २।१।९॥

३क २र
दूढ्यम् । पू० २।२।७॥

यहा क्रमशः 'न्वा-न्य-ध्य-ढ्य' उदाहरण हैं।

जात्य—एक श्रुति परे रहने पर—

३क २र
० मनुष्येभिः । पू० ।१।८।७॥

३क २ ३क २र
त गूर्धया स्वर्णरम् । पू० २।२।३॥

यहा क्रमशः 'ष्य-स्व' उदाहरण हैं।

प्रश्लेष—एकश्रुति परे रहने पर—

२ ३क २र
अधा हीन्द्र० ।पू० ५।२।८॥

यहा 'ही' उदाहरण है।

'न चेदुदात्तात् पराः' (यदि उदात्त से परे न हों) इसलिए कहा कि

३ १ २ ३
तृम्पा व्यश्नुही० । पू० २।७।७॥

यहाँ क्षैप्र स्वरित 'व्य' उदात्त 'म्पा' से परे है। इसलिए 'व्य' के निर्देश में 'र' का संकेत नहीं होता।

विशेष—ऊपर क्षैप्र आदि के जितने उदाहरण दिए हैं, उन सब में क्षैप्र आदि स्वरित से पूर्व अनुदात्त का ही निर्देश उपलब्ध होता है। इसलिए सूत्र में 'न चेदुदात्तात् पराः' के स्थान में 'अनुदात्तात् पराः' कहने से भी कार्य चल सकता था। 'तृम्पा व्यश्नुही०' में उदात्त से परे होने से 'र' का निर्देश अपने आप ही नहीं होता। उत्तर—'तृम्पा व्यश्नुही' में कार्य चल जाने पर भी

२ र २ र ३
क्वेयथ० । पू० ३।८।६॥ न्यस्मिन् दध्र० । उ० १(२)।५।३॥

में 'क्व' और 'न्य' से पूर्व अनुदात्त न होने से 'र' का निर्देश प्राप्त नहीं होता। इस लिए सूत्र में 'अनुदात्तात्पराः' न कह कर 'न चेदुदात्तात्पराः' कहा है।

अनुदात्त आदि परे 'र' का निर्देश इसलिए किया है कि

३ २ २
पाह्यू३त । पू० १।४।२॥

में उदात्त परे रहने पर 'ह्यू' पर 'र' का निर्देश न हो।

उदात्तपराः प्लवन्ते ॥५८॥

उदात्त स्वर परे है जिनसे ऐसे क्षैप्र-जात्य-प्रश्लेष-अभिनिहित स्वरित प्लुत होते हैं। यथा—

३ २ २
क्षैप्र—पाह्यू३त । पू० १।४।२॥

३ २ १ २
जात्य—दूत्यां३चरन् । पू० १।७।२॥

३ २ १ २
अभिनिहित—वृधे३ऽस्माँ अवन्तु । पू० ३।५।७॥

यहा प्रथम उदाहरण में 'ह्यू' स्वरित से परे 'त' उदात्त है, द्वितीय में 'त्या' से परे 'च' उदात्त है, तृतीय में 'धे' से परे 'स्मां' उदात्त है।

यहां सूत्र ५५ से '२' संख्या का निर्देश प्राप्त ही है, केवल प्लुतत्व का विधान इस सूत्र से किया है।

विशेष—(१) प्लुतसंज्ञक स्वर का निर्देश '३' संख्या से किया जाता है और '३' संख्या से पूर्व प्लुत वर्ण ह्रस्व अथवा दीर्घ दोनों रूप से लिखा जाता है। यथा—पाह्यु३त, पाह्यू३त; दूत्यां३चरन्, दूत्यं३चरन्। ह्रस्व अकार जहां प्लुत होता है और ह्रस्व से आगे '३' का संकेत होता है, वहां मूर्ख लोग प्लुत अकार का उच्चारण भी संवृत प्रयत्न से करते हैं। शिक्षा-शास्त्र के अनुसार प्लुत अकार का विवृत प्रयत्न से उच्चारण होना चाहिए। इसलिए हमने स्वसम्पादित, सं० २००४ में वैदिक यन्त्रालय अजमेर से प्रकाशित षष्ठावृत्ति में प्लुत स्वर का निर्देश सर्वत्र दीर्घस्वर से दर्शाया है।

(२) 'उदात्तपरा' प्लवन्ते' नियम हमने लिखित तथा मुद्रित पुस्तकों के अनुसार लिखा है।[1] हमें सन्देह है कि साम संहिता में जिन क्षैप्र आदि स्वरितों के आगे ३ का अङ्कन है, वह प्लुतत्व के लिए है। साम संहिता में जहां जहां क्षैप्रादि से आगे ३ का उल्लेख है उन मन्त्रों के पाठ की ऋक् और अथर्व पाठ से तुलना करने पर ज्ञात होता है कि यह ३ का अङ्क प्लुतत्व के लिए नहीं है, अपितु कम्प के लिए है। देखिए सूत्र १४,१५, के उदाहरण। केवल भेद इतना ही है कि ऋग् और अथर्व में ह्रस्व से परे १ तथा दीर्घ से परे ३ का अङ्कन होता है। परन्तु ऋग्वेद के कश्मीर पाठ में ह्रस्व क्षैप्रादि से आगे भी ३ का ही निर्देश मिलता है। देखिए सूत्र २० के उदाहरण। मैत्रायणी संहिता में भी ह्रस्व क्षैप्रादि का ३ से निर्देश किया जाता है, परन्तु उसमें '३' की संख्या क्षैप्र आदि से पूर्व लिखी जाती है। देखिए सूत्र ४८ के उदाहरण। कपिष्ठल कठ में क्षैप्रादि से परे अथवा पूर्व १ या ३ का निर्देश तो नहीं मिलता, परन्तु उसमें ह्रस्व क्षैप्र अथवा जात्य को दीर्घ रूप से लिखा जाता है। देखिए सूत्र ३३ की व्याख्या।

इन सब नियमों को दृष्टि में रखते हुए हमारा विचार है कि उदात्त परे रहने पर क्षैप्र आदि से परे जो ३ का अंक है, वह प्लुतत्व के ज्ञापन के लिए नहीं है, अपितु कम्प-निदर्शनार्थ है। कम्प होने पर ह्रस्व भी दीर्घवत् प्रतीत होता है, अतः ऋग्वेद के कश्मीर-पाठ में, मैत्रायणी संहिता में और साम संहिता में ह्रस्व से परे भी ३ का ही अंक लिखने की परिपाटी है। सम्भव है इसी कारण

---

१. श्री पं० विश्वबन्धु जी ने भी इस '३' संख्या को प्लुतत्व के लिए ही माना है। द्र० वैदिक पदानुक्रम कोष, संहिता भाग, खण्ड १, भूमिका पृष्ठ १२० ॥

कपिष्ठलकठ संहिता में तथा साम संहिता में ह्रस्व क्षैप्र और जात्य को दीर्घ भी लिखा जाता है।

उदात्तपूर्वाश्चेदनाङ्किताः ॥६०॥

पूर्व सूत्र से प्लुत किए गए क्षैप्र, जात्य, प्रश्लेष और अभिनिहित स्वरितों से पूर्व उदात्त स्वर हो तो वे बिना अङ्क के ही रहते हैं, अर्थात् उन पर पूर्व सूत्र ५५ से प्राप्त '२' संख्या का अङ्कन नहीं किया जाता। यथा—

२ ३ ३ २ १ २
त्वं ह्या ३ ङ्गे । पू० ।८।९।८॥ ऊर्जे व्या ३ व्ययं० । उ० ६(३)।१।४॥

३ २ १
विद्धी त्वा ३ स्य । पू० २।४।८॥

यहाँ क्रमशः 'ह्या-व्या-त्वा' से पूर्व 'त्व-र्जें-द्धी' उदात्त हैं और परे भी 'ङ्गे-व्य-स्य' उदात्त हैं।

अनुदात्तस्त्र्यङ्केन ॥६१॥

साम संहिता में अनुदात्त स्वर का निर्देश '३' संख्या से किया जाता है। यथा—

२ ३ १ २
अग्न आ याहि । पू० १।१।१॥

यहाँ 'ग्न' अनुदात्त है। अनुदात्त का अधिकार ६२ तक है।

अनेकानुदात्तत्व आद्य एव ॥६२॥

एक साथ अनेक अनुदात्त उपस्थित हों तो उनमें प्रथम अनुदात्त पर ही '३' अङ्कन किया जाता है। यथा—

३ १ २ ३ १ २
दूरेदृशं गृहपतिम् ॥पू० १।७।१०॥

यहाँ 'दूरेदृश' में 'दू-रे' दोनों अनुदात्त हैं। अत इनमें प्रथम 'दू' पर ३ का चिह्न है, 'रे' पर नहीं।

सरेफक्षैप्रजात्यप्रश्लेषेषु सककारेण ॥६३॥

रेफ सहित २ संख्या से निर्दिष्ट (सूत्र ५७) क्षैप्र, जात्य और प्रश्लेष स्वरितों के परे रहने पर पूर्व का अनुदात्त 'क' सहित ३ अंक से निर्दिष्ट होता है। यथा—

३क २र ३ २उ
क्षैप्र परे रहने पर—तन्वा गिरा० । पू० १।५।८॥

३क २र
जात्य परे रहने पर—मनुष्येभिः । पू० १।८।७॥

२ ३क २र
प्रश्लेष परे रहने पर—अधा हीन्द्र । पू० ५।२।८॥

सूत्र में 'सरेफ' विशेषण इसलिए दिया है कि—

३ २ २
पाह्यू३त । पू० १।४।२॥

यहाँ रेफविशिष्ट क्षैप्र स्वरित न होने से पूर्व अनुदात्त 'पा' पर 'क' का चिह्न नहीं किया जाता। क्षैप्र आदि का निर्देश इसलिए किया है कि—

३ १र २र १ २
पाहि विश्वस्या अरातेः । पू० १।१।६॥

यहाँ अनुदात्त 'पा' से परे रेफ सहित 'हि' तो है, परन्तु वह उदात्त है, क्षैप्र आदि स्वरित नहीं है।

एकश्रुतिरनङ्किता ॥ ६४ ॥

सामसंहिता में स्वरित से परे एकश्रुति स्वर पर कोई चिह्न नहीं होता। यथा—

२ ३ १ ० ३ २ ३ १ ०
अग्न आ याहि । पू० १।१।१॥ अग्निं दूतं वृणीमहे । पू० १।१।३॥

यहाँ प्रथम उदाहरण में 'हि' एक तथा द्वितीय उदाहरण में 'णी-म-हे' तीन एकश्रुति स्वर वाले हैं।

अथाथर्वणः ॥६५॥

यहां से आगे अथर्वसंहिता के स्वराङ्कन-प्रकारों का निर्देश करेंगे।

अथर्व की ९ संहिताओं में से इस समय शौनकीय और पैप्पलाद दो संहिताएँ ही उपलब्ध होती हैं। उनमें से

शौनकस्य तावत् ॥६६॥

पहले शौनक पाठ के स्वराङ्कन-प्रकार का निर्देश किया जाता है।

उदात्तानुदात्तसाधारणस्वरिता ऋग्वेदवत् ॥६७॥

शौनक सहिता में उदात्त, अनुदात्त और साधारण स्वरित स्वरों का निर्देश ऋग्वेद के समान समझना चाहिए।

जात्यक्षैप्रप्रश्लेषाभिनिहिता अग्रे ⌠ रेखया ॥६८॥

जात्य, क्षैप्र, प्रश्लेष और अभिनिहित स्वरितों का निर्देश स्वरित वर्ण के आगे ⌠ ऐसे चिह्न से किया जाता है। यथा—

जात्य—दुर्शयं यातुधान्य⌠ः ।४।२०।६॥

वज्रं स्वयं⌠ ततक्ष ।२।५।६॥

क्षैप्र—तुन्वो⌠ऽद्य ।१।१।१॥

स्वस्त्ये⌠नं जुरसे ।१।३०।२॥

प्रश्लेष—नी ⌠त एव ।३।११।२॥

अभिनिहित—ये ⌠स्या दोहमुपासते ।५।१७।१७॥

दिशो ⌠ऽभिदासंन्त्यस्मान् ।४।४०।१॥

विशेष—राथ ह्विटनी द्वारा संपादित शौनक पाठ तथा लिंडनो द्वारा उसके पुनः परिष्कृत संस्करण में जात्यादि स्वरितों पर भी ऋग्वेद के समान ⊥ ऊर्ध्व रेखा का चिह्न ही व्यवहृत है। राथ ह्विटनी के सस्करण के आधार पर मुद्रित कतिपय भारतीय संस्करणों[1] में भी यही संकेत उपलब्ध होता है।

विशेष—श्री पं० विश्वबन्धु जी ने अथर्ववेदीय स्वरित स्वर के सकेत के विषय में लिखा है—

शौनकीयेऽथर्ववेदे स्वरितादुपरि ⌠ इति संकेतो भवति, तय॰ वीर्यं⌠म्, सर्वोद्य⌠स्मिन् (११,८,३२) ज्येष्ठवरो⌠ऽभवत् (११,८,१)। उदात्तादुपरितनः स्वरितस्तु बाह्वृचवत् साधारणेनोर्ध्व-दण्डेनैव संकेत्यते, तय. तं व्यूर्णुवन्तु सूतवे (१,११,२)[2]।

---

१. हमारे द्वारा सपादित षष्ठ सस्करण (स० २००१) से पूर्व वैदिक यन्त्रालय अजमेर से जितने सस्करण छपे थे, उनमें क्षैप्रादि स्वरितों पर भी ऐसा ⊥ चिह्न ही था॥

२. वैदिक पदानुक्रम कोश, सहिता भाग, खण्ड १, भूमिका पृष्ठ ११९॥

अर्थात्—शौनक अथर्ववेद में स्वरित से आगे ⌡ ऐसा संकेत होता है। यथा—

वीर्यं⌡, सर्वाह्य⌡स्मिन् (११,८,३२)।

ज्येष्ठवरो⌡ ऽभवत् (११,८,१)।

उदात्त से अगला स्वरित ऋग्वेद के समान खड़ी रेखा से ही संकेतित किया जाता है। यथा—

तं व्यूर्णुवन्तु सूतंवे (१,११,२)।

दो भूलें—श्री पण्डित जी के लेख में यहां दो भूलें हैं।

प्रथम—उदात्त से परे अनुदात्त को जो स्वरित होता है, उसका निर्देश अथर्ववेद में सर्वत्र ⊥ ऐसी ऊर्ध्वरेखा से ही किया जाता है। उसका निर्देश श्री पण्डित जी ने नहीं किया। ⌡ चिह्न से निर्देश तो क्षैप्र, जात्य, प्रश्लेष और अभिनिहित स्वरित का ही किया जाता है, न कि साधारण स्वरित का।

द्वितीय—श्री पण्डित जी ने अथर्व १।११।२ का पाठ उद्धृत करके दर्शाया है कि उदात्त से परे जो स्वरित होता है, उस का संकेत ⌡ चिह्न से न करके ऋग्वेद के ⊥ उर्ध्व रेखा से किया जाता है। यह भी पूर्णतया सत्य नहीं है। अथर्ववेद में अधिकांश रूप में उदात्त से परे क्षैप्र आदि स्वरितों में भी ⌡ चिह्न ही उपलब्ध होता है। यथा—

अग्निर्व्यं⌡षां दूतः ।३।१।२॥

०आरण्यैर्व्यो⌡प०।३।३१।३॥

दिवस्पृष्ठं स्व⌡र्गत्वा ।४।१४।२॥

लोकं स्व⌡रारोहन्तो० ४।१४।६॥

इस प्रकार के अनेक ऐसे पाठ हैं, जिनमें उदात्त से परे भी क्षैप्र आदि का ⌡ चिह्न से ही संकेत है। शङ्कर पाण्डुरंग के सस्करण में इन पर कोई पाठान्तर निर्दिष्ट नहीं है।

कुछ स्थल ऐसे भी हैं जहाँ दोनों प्रकार के पाठ हैं। यथा—

दे॒वाः स्व⌡रारुहुः। ४।६।६॥ पाठान्तर—दे॒वाः स्वंरा०।

वि॒द्वा व्यो⌡षया०।३।२६।४॥ पाठान्तर—वि॒द्वा व्योषंया।

इन में द्वितीय उद्धरण का पाठान्तर-निर्दिष्ट स्वर अशुद्ध है। स्वरित का चिह्न 'व्यो' पर होना चाहिए।

अथर्ववेद के कई स्थल ऐसे भी हैं जहाँ शंकर पाण्डुरंग ने उसके सम्पूर्ण हस्तलेखों में उदात्त से परे क्षैप्र आदि स्वरित का ⊥ उर्ध्व रेखा से सकेत होने पर भी मन्त्र पाठ में उसने ∫ का ही सकेत किया है। यथा—

तत्रं सेदिन्यु ∫च्यतु० २।१४।३ ॥

हा, अति स्वल्प स्थान ऐसे हैं जहाँ उदात्त से परे क्षैप्र आदि स्वरित का निर्देश हस्तलेखों में केवल ⊥ ऊर्ध्व दण्ड से ही किया है। शकरपाण्डुरङ्ग ने

तं व्यूंर्णुवन्तु० ।१।११।२ ॥ सुषा व्यूंर्णोतु वि १।११।३ ॥

ऐसे कतिपय स्थानों पर उदात्त से परे विद्यमान क्षैप्र आदि स्वरित का ⊥ ऊर्ध्वदण्ड से निर्देश किया है।

हमारा संस्करण—अजमेर वैदिक यन्त्रालय से सं० २००१ में अथर्ववेद का छठा सस्करण प्रकाशित हुआ है, वह हमारे द्वारा परिष्कृत है। हमने हस्तलेखों में उदात्त से उत्तरवर्ती क्षैप्र आदि स्वरितों के विषय में कहीं-कहीं विप्रतिपत्ति देखकर भूमा-न्याय से सर्वत्र समान रूप से ∫ चिह्न से ही संकेत किया है।

उदात्तपराः कम्पन्ते, ऋग्वेदवच्चाङ्क्यन्ते ॥६९॥

उदात्त परे रहने पर क्षैप्र आदि स्वरित कम्प को प्राप्त होते हैं और ऋग्वेद के समान ही ह्रस्व से परे १ सख्या से तथा दीर्घ ३ सख्या से अङ्कित होते हैं।

क्षैप्र—तन्वं १ पादौ ।६।६।१ ॥

तन्वा ३ सं बलेन ।५।३०।१४ ॥

जात्य—यदाद्यं १ यदंनाद्यम् ।८।२।१९ ॥

या रोहिंणीर्देवस्या ३ गावो वा १।२२।३ ॥

अभिनिहित—न ब्राह्मणो हिंसितव्यो३ऽग्निः ५।१८।६॥

अथ पैप्पलादस्य ॥ ७० ॥

अत्र अथर्ववेद के पैप्पलाद पाठ के स्वराङ्कन का प्रकार लिखते हैं।

विशेष—पैप्पलाद का स्वराङ्कन-प्रकार श्री प० विश्वबन्धु जी के निर्देशानुसार लिखा है।

उदात्तः शीर्षस्थोर्ध्वरेखया ॥ ७१ ॥

पैप्पलाद पाठ में उदात्त का संकेत ऊपर खड़ी रेखा से किया जाता है। यथा—

शरव्या या ।१४।२।७॥ तन्वा शन्तमया ।१४।२।८॥

इनमें क्रमशः 'या-श' ये उदात्त हैं।

अनुदात्तोऽधस्तादूर्ध्वदण्डेन ॥ ७२ ॥

अनुदात्त का निर्देश वर्ण के नीचे खड़े दण्ड से किया जाता है। इसके लिए देखिए पूर्वनिर्दिष्ट द्वितीय उदाहरण में 'तन्वा' का 'त'।

सामान्यस्वरितोऽधस्ताद् बिन्दुना ॥ ७३ ॥

सामान्य स्वरित (उदात्त से परे जो अनुदात्त को स्वरित होता है) का निर्देश वर्ण के नीचे बिन्दु लगाकर किया जाता है। यथा—

कामः। शन्तमया ।१४।२।८॥

क्षैप्रादयो वक्ररेखया ॥ ७४ ॥

क्षैप्र आदि स्वरित वर्ण के नीचे ‿ वक्ररेखा से अङ्कित किए जाते हैं। यथा—

क्षैप्र—तन्वा शन्तमया ।१४।२।८॥

जात्य—आस्याय ।१६।१०४।६॥

शरव्या या ।१४।२।७॥

क्षैप्रादिभ्यः परः प्रथमैकश्रुतिरधो बिन्दुना ॥ ७५ ॥

स्वरित से परे जितने वर्ण एकश्रुति स्वर वाले हैं, उन में प्रथम के नीचे बिन्दु लगाया जाता है। यथा—

आस्याय ।१६।१०४।६॥

विशेष—पैप्पलाद पाठ के स्वराङ्कन-प्रकार काठक संहिता के स्वराङ्कन-प्रकार से उदात्त, अनुदात्त, सामान्य स्वरित और क्षैप्र आदि स्वरितों के विषय में पूर्णतया समानता रखते हैं। दोनों संहिताओं का पुराकाल में कश्मीर में विशेष पठन-पाठन होता था। सम्भवतः इसी कारण दोनों के स्वराङ्कन-प्रकार में अत्यधिक सादृश्य है॥

अथ ब्राह्मणानाम् ॥ ७६ ॥

यहा से आगे ब्राह्मण ग्रन्थों के स्वराङ्कन-प्रकार का निर्देश करेंगे।

माध्यन्दिनशतपथस्य तावत् ॥ ७७ ॥

प्रथम माध्यन्दिन शतपथ के स्वराङ्कन प्रकार का निर्देश करेंगे।

विशेष—हमने माध्यन्दिन शतपथ के स्वराङ्कन-प्रकार का निर्देश प्रधानतया वैदिक यन्त्रालय अजमेर मुद्रित सस्करण के अनुसार किया है। वेबर और अच्युत ग्रन्थमाला काशी के सस्करणों में कहीं कहीं स्वल्प भेद है।

उदात्तोऽधःसरलरेखया ॥ ७८ ॥

माध्यन्दिन पाठ में उदात्तस्वर का निर्देश नीचे सीधी रेखा से किया जाता है।[1] यथा—

अथ स ं स्थिते विसृजते ।१।१।१।२॥

यहा 'अ-स-वि' उदात्त हैं।

विशेष—अजमेरमुद्रित सस्करण के आरम्भ के कुछ भाग में उदात्त से परे श्रूयमाण 'ं' के नीचे रेखा का प्रयोग नहीं किया है, आगे सर्वत्र है। इस नियम का उल्लेख हमने सूत्र ७९ में किया है।

द्वयोर्बहूनां वाऽन्त्य एव ॥ ७९ ॥

जहा दो अथवा बहुत उदात्त एक साथ प्रयुक्त होते हैं, वहा अन्त्य ही सीधी रेखा से अङ्कित किया जाता है। यथा—

दो में—व्रतमुपयानीति ।१।१।१।१॥

त उत्तरस्य ।४।६।६।११॥

---

१. शतपथ के स्वर-ज्ञान के लिए एक 'भाषिक सूत्र' नामक शु० यजुः प्रातिशाख्य का परिशिष्ट मिलता है। यह कात्यायन-प्रोक्त माना जाता है। इस पर अनन्त भट्ट की टीका भी छपी है। यह परिशिष्ट काशी से प्रकाशित शु० य० प्रातिशाख्य के अन्त में ४३२–४७० तक छपा है। इस में शतपथ में स्वर-चिह्न-रहित लिखे जाने वाले स्वरित और अनुदात्तों का उदात्त बना दिया है (द्र० सूत्र १३, १४) और उदात्त को अनुदात्त (द्र० सूत्र १५)। यह शास्त्रविरुद्ध होने से चिन्त्य है। इस हेतु से हमें यह भाषिक सूत्र की कात्यायन-प्रोक्तता में सन्देह होता है॥

प्रथम उदाहरण में 'त-मु' दो उदात्त हैं, दूसरे में 'त-उ'। दोनों में पूर्व उदात्त पर कोई चिह्न नहीं है, द्वितीय पर है।

बहुतों में—अग्निर्ह वै धूरथ ।१।१।२।६॥

यहां 'ग्नि-ह-वै-धू-र' ये पाच उदात्त हैं। इनमें प्रथम चार पर कोई चिह्न नहीं, अन्तिम 'र' पर चिह्न लगाया जाता है।

उदात्तात् परस्यानुस्वारस्य ꣳ ꣴ संकेतावपि ॥८०॥

उदात्त से परे जिस अनुस्वार को 'ऊष्म' और 'र' वर्ण परे रहने पर ꣳ वा ꣴ सकेत से लिखा जाता है, वह भी सीधी रेखा से अङ्कित किया जाता है। यथा—

यत्पञ्चम ꣴ स्रुचा ।३।१।४।२॥

यद्मेध्य ꣳ रिप्रं० ।३।१।२।११॥

विशेष—(१) शतपथ के किसी सस्करण में ꣳ सकेत उपलब्ध होता है और किसी में ꣴ। सहिता में दोनों ही सकेत ह्रस्वपूर्व और दीर्घपूर्व की व्यवस्था से व्यवस्थित हैं।

(२) श्री प० विश्वबन्धु जी ने इस नियम का उल्लेख करते हुए लिखा है—

अङ्कितस्य सत उदात्तस्य अनुनासिकतां प्राप्तावनुनासिकचिह्नमप्यधो रेख्यते······।[1]

अर्थात्—अधोरेखा से अङ्कित उदात्त के अनुनासिक होने पर अनुनासिक का चिह्न (ꣴ) भी अधोरेखा से चिह्नित किया जाता है।

आलोचना—यहा श्री पण्डित जी ने ꣴ (वा ꣴ) को अनुनासिक का चिह्न कैसे कह दिया, समझ में नहीं आता। 'शत ꣳ शत ꣳ ह' अथवा 'मेध्य ꣴ रिप्रम्' आदि में 'शतम्-मेध्यम्' के मकार को मोऽनुस्वार (अ० ८।३।२४) से अनुस्वार होना ही सम्भव है और उसी अनुस्वार का ऊष्म और र परे यजुर्वेद में ꣴ अथवा ꣳ से निर्देश किया जाता है (द्र० याज्ञ० शिक्षा)। यहाँ मकार के लोप और उससे पूर्ववर्ती अकार के अनुनासिकत्व की कल्पना न केवल शास्त्रविरुद्ध है, अपितु प्रयोगविरुद्ध भी है। कोई भी वैदिक ꣴ अथवा ꣳ से पूर्ववर्ती स्वर को अनुनासिक नहीं पढता।

विरामात् पूर्वतनो व्यवहितोऽव्यवहितश्च द्वाभ्यां त्रिभिर्वा बिन्दुभिः, विरामाच्चेदुत्तर उदात्तः स्यात् ॥८१॥

---

१ वैदिक-पदानुक्रम-कोष, संहिता भाग, खण्ड १, भूमिका पृष्ठ १२२॥

विराम से अव्यवहित पूर्ववर्ती अथवा एक वर्ण से व्यवहित उदात्त दो अथवा तीन[1] बिन्दुओं से निर्दिष्ट किया जाता है, यदि विराम से उत्तरवर्ती वर्ण उदात्त हो। यथा—

अव्यवहित—छित एकतः ॥१॥
त इन्द्रेण ॥२॥ [१।२।३।१,२]
मानुषेऽथैवं देवत्रा ॥७॥
स युनक्ति ॥८॥ [५।१।४।७,८]

यहा प्रथम उदाहरण में विराम से पूर्व 'त' उदात्त है, उससे आगे 'त–इ' दो उदात्त हैं। इनमें प्रथम पर सूत्र ७८ के अनुसार चिह्न नहीं किया गया। द्वितीय उदाहरण में विराम से पूर्व 'त्रा' उदात्त है, उससे परे 'स' उदात्त है।

व्यवहित—पृदाकुरिति ॥३॥ अथ ॥४॥ [४।४।५।३,४]
यदपक्षीयते ॥१५॥ अथ यत् ॥१६॥ [२।४।४।१५,१६]

यहाँ विराम से पूर्व 'ति' उदात्त और उससे पूर्व 'रि' उदात्त है। दूसरे में विराम से पूर्ववर्ती 'ते' अनुदात्त और 'य' उदात्त है। दोनों में विराम से आगे 'अ' उदात्त है।

सूत्र में 'विरामाच्चेदुत्तर उदात्त' इसलिए ग्रहण किया है कि जहाँ विराम से आगे अनुदात्त वर्ण होता है, वहाँ विराम से पूर्ववर्ती अव्यवहित अथवा व्यवहित उदात्त का निर्देश नीचे सीधी रेखा से ही किया जाता है।

विशेष—श्री पं० विश्वबन्धु जी ने शतपथ स्वर-सकेत-प्रकरण के सख्या ७ के नियम में लिखा है—

कण्डिकाब्राह्मणान्यतरावसानीय उदात्त कण्डिकाब्राह्मणान्यतराद्य उदात्ते परतस्त्रिभिरधोबिन्दुभिः सकेत्यते।[2]

अर्थात्—कण्डिका तथा ब्राह्मण के अवसान (विराम) में वर्तमान उदात्त,

---

१ किसी सस्करण में दो बिन्दुओं से निर्देश किया जाता है, किसी में तीन से ॥

२ इस पर श्री प० विश्वबन्धु जी ने टिप्पण लिखा है—वेबर ने इसका सकेत वर्ण के नीचे बिन्दुओं के दो त्रिकों :. से किया है। वै० पदा० कोष, सहिता भाग, खण्ड १ भूमिका, पृष्ठ १२२॥

३ वै पदा कोष, सहिताभाग, खण्ड १, भूमिका पृष्ठ १२२ ॥

अन्य कण्डिका वा ब्राह्मण के आदि उदात्त के परे रहने पर नीचे तीन बिन्दुओं से अङ्कित होता है।

नियम में न्यूनता—श्री पं० जी के उक्त नियम मे दो न्यूनताएँ हैं—

१—केवल अवसान में वर्तमान उदात्त ही नहीं, अपितु अवसान में वर्तमान वर्ण से पूर्व विद्यमान उदात्त भी दो वा तीन बिन्दुओं से अङ्कित किया जाता है। देखिए—सूत्र ८० के हमारे द्वारा उद्धृत 'व्यवहित' के उदाहरण।

२—श्री पण्डित जी ने केवल कण्डिका अथवा ब्राह्मण के अवसान में वर्तमान उदात्त का ही तीन बिन्दुओं से निर्देश करना लिखा है, परन्तु कण्डिका के मध्यमें वर्तमान अवसान (विराम) से पूर्ववर्ती (व्यवहित अथवा अव्यवहित) उदात्त का भी दो वा तीन बिन्दुओं से निर्देश उपलब्ध होता है। यथा—

यदग्निः। तस्मात् ।६।२।१।१२॥

वा एताः। षडाहुतयः ।४।४।५।१८॥

यहाँ द्वितीय उदाहरण में विराम से उत्तर 'ष-हा' दोनों उदात्त हैं (सूत्र ७८)।

आलोचनीय—(१) शतपथ ९।२।३।२५ के अजमेर संस्करण में पाठ है।

तद्विश्वैर्देवैः सह यजमानं ...।

यहाँ 'वै' के नीचे दो बिन्दुओं का निर्देश है। न यहाँ विराम आगे है और न उदात्त। 'सह' अन्तोदात्त होता है। अतः यहाँ अनुदात्त 'स' परे है। यहाँ मुद्रणदोष है अथवा नियमान्तर की कल्पना करनी होगी, यह विचारणीय है।

(२) शतपथ (अजमेर सं०) के कतिपय पाठ हैं—

पुमांसमुपशेते ॥२०॥
ता नान्तरेण ... ॥२१॥ [१।१।१।२०,२१]
तस्माद् वृत्रो नाम ॥४॥
तमिन्द्रो ... ॥५॥ [१।१।२।४,५]
भवतोरिति ॥६॥
तद्वै यजेतैव ... ॥१०॥ [५।१।१।६,१०]
लोकेषु दिशः ॥१३॥
ग्राह्ये नाम्नि ... ॥१४॥ [७।३।१।१३,१४]

इत्यादि अनेक स्थानों में उदात्त का निर्देश दो बिन्दुओं से न करके सीधी रेखा से उपलब्ध होता है। अत हमारा नियम भी अभी सामान्य अवस्था में ही है। इस विषय के सूक्ष्मतर नियम ज्ञातव्य हैं।

जात्यादिपरे च ॥८२॥

विराम से जात्य, अभिनिहित स्वरित परे रहने पर भी विराम से अव्यवहित अथवा व्यवहित पूर्ववर्ती उदात्त भी दो वा तीन बिन्दुओं से अङ्कित किया जाता है। यथा—

जात्य—०मिस्येतत् ॥ २६ ॥ स्वर्यन्तो······॥२७॥
[४।२।३।२६,२७]

अभिनिहित—प्रतिप्रस्थाता ॥१३॥ सोऽध्वर ·· ॥१४॥
[४।२।१।१३,१४]

अनुदात्तोऽपि ॥८३॥

विराम से आगे जात्य अथवा अभिनिहित स्वरित परे रहने पर विराम से पूर्ववर्ती अनुदात्त भी दो या तीन बिन्दुओं से अङ्कित किया जाता है। यथा—

न मामन्य इति ॥ तेऽ विदुः···॥८॥ [३।४।३।७,८]

यहां विराम से पूर्व 'ति' अनुदात्त है, उससे परे 'ते' अभिनिहित स्वरित है।

आवसानिकस्योदात्तस्योत्तरेणानुदात्तेन संहितायां स्वरितत्वसम्भवे तत्पूर्वम् ॥८४॥

विराम से पूर्ववर्ती उदात्त के साथ विराम से उत्तरवर्ती अनुदात्त के साथ [विराम हटाकर] संहिता = सन्धि करने पर यदि स्वरित स्वर की सम्भावना हो तो उस विराम से पूर्ववर्ती उदात्त से पूर्व जो अनुदात्त है, उसका भी दो अथवा तीन बिन्दुओं मे निर्देश किया जाता है। यथा—

समवमृशन्त्स्येव । एतद्ध ·· ३।४।२।१३॥

यहाँ 'एव' का 'व' उदात्त है, उससे परे विराम से उत्तर 'ए' अनुदात्त है। उदात्त 'व' और अनुदात्त 'ए' के मध्य के विराम को हटा देने पर दोनों की सन्धि 'वै' स्वरित होगी [द्र० अष्टा० ८।२।६]। अतः यहाँ 'व' से पूर्ववर्ती अनुदात्त 'न्त्स्ये' के नीचे बिन्दुएँ रखी हैं।

बिन्दुसंकेतितात् परौ ७, ९ संकेतावधोरेखयैव ॥८५॥

बिन्दुओं से सङ्केतित वर्ण से उत्तर ९ अथवा ५ नीचे सीधी रेखा से ही अङ्कित किए जाते हैं। यथा—

पौष्ण॒ ॐ ॥१९॥ सैषा॑ ॥२०॥ [३।१।४।१९,२०]

यहाँ उदात्त 'ष्ण' विराम से उत्तरवर्ती उदात्त 'सै' के परे सूत्र ८० से दो या तीन बिन्दुओं से निर्दिष्ट होता है। उससे परे ९ वा ५ के नीचे सीधी रेखा लगाई जाती है।

विशेष—श्री पं० विश्वबन्धु जी ने इस नियम का उल्लेख नहीं किया।

जात्यक्षैप्रप्रश्लेषाभिनिहिता अनङ्किताप्तत्पूर्वेऽनुदात्ता अधोरेखया ॥८६॥

जात्य, क्षैप्र, प्रश्लेष, और अभिनिहित स्वरितों पर कोई चिह्न नहीं लगाया जाता, उनसे पूर्ववर्ती अनुदात्त के नीचे सीधी रेखा का चिह्न किया जाता है[1]। यथा—

जात्य—धा॒न्यमसि ।१।२।१।१८॥ भूर्भु॒वः स्वः ।२।४।१।१॥

क्षैप्र—उ॒र्वन्त॒रिक्षम् ।१।१।२।४॥

प्रश्लेष—दि॒वीव च॒क्षुरा॒तत॒म् ।३।७।१।१८॥

अभिनिहित—प्रसु॒वेऽश्वि॒नोः ।१।१।२।१७॥

वे॒दोऽसि ये॒न ।१।६।२।२३॥

विशेष—इस सूत्र से दो कार्यों का विधान किया है। प्रथम-जात्यादि स्वरित के लिए संकेत के अभाव का। दूसरा-जात्यादि से पूर्ववर्ती अनुदात्त के नीचे सीधी रेखा के निर्देश का। इसलिए जहाँ जात्यादि स्वरित से पूर्व उदात्त होता है, वहाँ केवल जात्यादि स्वरित के अङ्कनाभाव का ही विधान समझना चाहिए।

प्रश्लिष्टे प्रश्लिष्टोऽपि ॥८७॥

प्रश्लिष्ट स्वरित के परे रहने पर पूर्ववर्ती प्रश्लिष्ट स्वरित भी सीधी रेखा से अङ्कित किया जाता है। यथा—

---

१. वेबर अपने शतपथ के संस्करण में ऐसे स्वर का संकेत वर्ण के नीचे दो सीधी = रेखा से करता है॥

यविष्ठ्येति सैषैतमेव ।१।४।१।२६॥

यहाँ 'ष्ठ्य-इ' दोनों उदात्तों की सन्धि 'ष्ठ्ये' उदात्त है। अतः उसके नीचे रेखा लगी है। उसके आगे 'ति' अनुदात्त है। उससे आगे उदात्त 'सा' और अनुदात्त 'ए' की प्रश्लिष्ट सन्धि 'सै' स्वरित है, उसके परे रहने पर पूर्वसूत्र ८५ से अनुदात्त 'ति' के नीचे रेखा लगाई जाती है। प्रश्लिष्ट स्वरित 'सै' से आगे उदात्त 'षा' और अनुदात्त 'ए' की प्रश्लिष्ट सन्धि 'षै' स्वरित है, उसके परे रहने पर पूर्व प्रश्लिष्ट स्वरित 'सै' के नीचे इस सूत्र(८७) से रेखा लगाने का निर्देश किया है। उत्तरवर्ती प्रश्लिष्ट स्वरित 'षै' सूत्र ८५ के नियमानुसार चिह्नरहित रहता है।

शिष्टाः स्वरितानुदात्तैकश्रुतयोऽनङ्किताः ॥ ८८ ॥

पूर्वनिर्दिष्ट स्वरों से भिन्न स्वरित, अनुदात्त और एकश्रुति चिह्नरहित प्रयुक्त होते हैं।

माध्यन्दिनवत् प्रायेण काण्वे ॥ ८९ ॥

माध्यन्दिन शतपथ के स्वराङ्कन के समान ही काण्व शतपथ में भी प्रायः स्वराङ्कन है।

तैत्तिरीय संहितावत्तद्ब्राह्मणे ॥ ९० ॥

तैत्तिरीय संहिता के समान ही उसके ब्राह्मण का स्वराङ्कन प्रकार है।

शतपथवत्ताण्डिभाल्लविबह्वृचां ब्राह्मणस्वर आसीत् ॥ ९१ ॥

पुराकाल में ताण्ड्य, भाल्लवि और बाह्वृच (ऋग्वेद के) ब्राह्मण में शतपथ के समान स्वर था।

इस का संकेत अनेक ग्रन्थों में मिलता है। यथा—

(१) भाषिक सूत्र कण्डिका ३ में लिखा है—

शतपथवत् ताण्डिभाल्लविनां ब्राह्मणस्वर ॥ १५ ॥

(२) नारदीय शिक्षा १।१३ में कहा है—

द्वितीयप्रथमावेतौ ताण्डिभाल्लविना स्वरौ।
तथा शातपथावेतौ स्वरौ वाजसनेयिनाम् ॥

(३) शबरस्वामी मीमांसाभाष्य १२।३।७ में भाषिक स्वर का लक्षण दर्शाता हुआ लिखता है—

छन्दोगा बाह्वृचाश्चैव तथा वाजसनेयिन ।
उच्चनीचस्वरं प्राहुः स वै भाषिक उच्यते ॥

इन उद्धरणों में उल्लिखित ताण्ड्य और बाह्वृच (ऐतरेय अथवा कौषीतकि अथवा शाखायन) ब्राह्मणों पर सम्प्रति स्वरचिह्न उपलब्ध नहीं होते । पुराकाल में ये सस्वर थे, यह पूर्व प्रमाणों से स्पष्ट है । भाल्लवि ब्राह्मण चिरकाल से उत्सन्न हो चुका है ।

बृहदारण्यकतैत्तिरीयारण्यकयोः स्वब्राह्मणवत् ॥ ६२ ॥

माध्यन्दिन और काण्व बृहदारण्यक तथा तैत्तिरीय आरण्यक का स्वराङ्कन-प्रकार उन के अपने ब्राह्मणों के समान ही है ।

शिष्टं वाङ्मयमनङ्कितम् ॥ ६३ ॥

शेष वाङ्मय स्वर-चिह्नों से रहित है ॥



इति श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणज्ञाना वैयाकरणमूर्धन्याना पण्डित-
शङ्करदेवपादानामन्तेवासिना लब्धस्वरशास्त्रवैदु-
ष्येण युधिष्ठिरमीमांसकेन मीमांसिता
वैदिक-स्वर-मीमांसा
सम्पूर्णा ॥

शुभं भवतु



परिशिष्ट—१

पद-पाठ के नियम

संस्कृत की एम० ए० तथा शास्त्री आदि परीक्षाओं में जहाँ वेद-विषय का सन्निवेश होता है, वहाँ मन्त्र के संहितापाठ को पदपाठ में परिवर्तन करने का एक प्रश्न प्रायः रहता है। कभी कभी पदपाठ को संहितापाठ में परिवर्तन दिखाने का प्रश्न भी आ जाता है। विद्यार्थी इस प्रश्न से प्रायः घबराते हैं, और इस प्रश्न को छोड़ देते हैं। इसलिए उनके लाभार्थ इस विषय का प्रतिपादन किया जाता है। हम यथासम्भव उन सभी नियमों का संग्रह करेंगे,[1] जिनके अनुशीलन से संहिता-पाठ को पद-पाठ में यथार्थ रूप से परिवर्तन किया जा सके।

मन्त्र के संहितापाठ को पदपाठ में परिवर्तन करने के लिए निम्न बातों पर ध्यान देना आवश्यक है—

१—उदात्त आदि स्वरों के साधारण नियम।
२—पदपाठ में व्यवहार्य कतिपय विशिष्ट संज्ञाएँ।
३—संहितापाठ से पदपाठ करने के साधारण नियम।
४—पदस्वर-संबन्धी नियम।
५—प्रगृह्य-संबन्धी नियम।
६—रिफित-संबन्धी नियम।
७—अवग्रह-सबन्धी नियम।

१—उदात्त आदि स्वरों के साधारण नियम

१—संहिता अथवा पदपाठ में उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और एकश्रुति[2]

---

१. इस प्रकरण में ऋग्वेद के पदपाठ-सम्बन्धी नियमों का ही उल्लेख होगा॥

२. ऋग्वेद, शुक्ल यजुर्वेद, तैत्तिरीय संहिता और शौनक अथर्व संहिता में उदात्त स्वर पर कोई चिह्न नहीं होता। वह प्रायः अनुदात्त से परे अथवा स्वरित से पूर्व चिह्नरहित होता है। अनुदात्त के नीचे आड़ी रेखा लगाई जाती है। स्वरित पर खड़ी रेखा लगाई जाती है। स्वरित से परे चिह्नरहित एकश्रुति स्वर वाले होते हैं॥

ये चार स्वर प्रयुक्त होते हैं। इनके विषय में अ० ३ में विशेष रूप से द्रष्टव्य है।

२—उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और एकश्रुति स्वर अ इ उ आदि अचों (=स्वरों) के धर्म हैं, व्यञ्जनों के नहीं। इसलिए उदात्त आदि स्वरों के चिह्न शुद्ध अच् (=स्वर) अथवा व्यञ्जनसहित अच् पर ही लगाये जाते हैं, अच्-रहित केवल व्यञ्जन पर नहीं। यथा—

अग्निमीळे पुरोहितम्। ऋ० १।१।१॥

यहाँ अच्‌रहित 'म्' स्वररहित है।

३—पद[1] में एक ही अक्षर उदात्त होता है। इसका कोई चिह्न नहीं लगाया जाता।

४—'तवै' प्रत्ययान्त समास में, तथा वनस्पति आदि कतिपय समस्त पदों में एक से अधिक भी उदात्त देखे जाते हैं। यथा—

अन्वेतवै। ऋ० १।२४।८॥ वनस्पतिः। ऋ० १।६०।८।
बृहस्पतिः। ऋ० १।६२।३॥ इन्द्राबृहस्पती। ऋ० ४।४९।५॥

५—उदात्त के अतिरिक्त समस्त अच् अनुदात्त हो जाते हैं।[2] यथा—

अनुकामकृत्। ऋ० ६।११।७॥
अनुयच्छमानाः। ऋ० १।१०६।३॥

६—उदात्त से परे अनुदात्त को स्वरित हो जाता है।[3] यथा—

यज्ञस्य। ऋ० १।१।१॥ अनुयच्छमानाः। ऋ० १।१०६।३॥

७—स्वरित से परे जितने अनुदात्त होते हैं, उन्हें एकश्रुति हो जाता है।[4] यथा—

अनिविशमानाः ऋ० ७।४६।१॥
अनुयच्छमानाः। ऋ० १।१०६।३॥

---

१. सुप्तिङन्तं पदम्। अष्टा० १।४।१४॥ विभक्त्यन्तं पदम्। आपिशलि, नाट्यशास्त्र १४।३९ न्यायभाष्य २।१।५७॥

२. अनुदात्तं पदमेकवर्जम्। अष्टा० ६।१।१५८॥

३. उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः। अष्टा० ८।४।६६॥

४. स्वरितात् संहितायामनुदात्तानाम्। अष्टा० १।२।३९॥

यहाँ प्रथम उदाहरण में 'अ' उदात्त है, शेष 'नि-वि-श-मा-नाः' पांचों अनुदात्त होते हैं। तत्पश्चात् उदात्त 'अ' से उत्तरवर्ती अनुदात्त 'नि' स्वरित होता है। तदनन्तर स्वरित 'नि' से उत्तरवर्ती 'वि श-मा-नाः चारों अनुदात्तों को एकश्रुति स्वर हो जाता है। इसी प्रकार 'अनुयच्छमानाः' में भी समझें।

८—कभी कभी पद में उदात्त के स्थान में स्वरित भी मुख्य स्वर बन जाता है। यथा—

मनुष्य॑। ऋ० १।५६।४॥ कन्या॑। ऋ० १।१६१।५॥

यह स्वरित उदात्त की अपेक्षा (नियम ६) नहीं करता। अतः इसे जात्य स्वरित कहते हैं।

९—कतिपय पदों में केवल अनुदात्त स्वर ही रहता है, उदात्त अथवा जात्य स्वरित नहीं होता। यथा—

पद से परे संबोधन—पृथिव्या इन्द्र सदनेषु।[1]
ऋ० १।५६।६॥

पद से परे तिङन्त— इन्द्रमभि प्र गायत[2] ऋ० १।५।१॥

त्वम्[3]। ऋ० १।११३।५॥ समस्मिन्[4]। ऋ० ८।२१।८॥

१०—संहिता में उदात्त से परे अनुदात्त हो और उस अनुदात्त से परे उदात्त अथवा जात्य स्वरित हो तो उस उदात्त से परे विद्यमान अनुदात्त को स्वरित नहीं होता, अनुदात्त ही बना रहता है। यथा—

देवम्-ऋत्विजम् = देवमृत्विजम् ।१।१।१॥

यहाँ उदात्त 'व' से उत्तर अनुदात्त 'मृ' का स्वरित नहीं हुआ, क्योंकि उससे उत्तर 'त्वि' उदात्त है।

---

१. आमन्त्रितस्य च। अष्टा० ८।१।१९॥

२. तिङ्ङतिङः। अष्टा० ८।१।२८॥

३. अस्यास्मैनस्त्वसमसिमेत्येतान्यनुच्चानि॥ फिट् सूत्र ४।१० (जर्मन संस्करण)। इस सूत्र में 'सिम' को अनुदात्त कहा है, अगले सिमस्याथर्वणेऽन्त उदात्त (४।११) में अथर्ववेद में अन्तोदात्त माना है। परन्तु ऋग्वेद में भी अन्तोदात्त ही देखा जाता है।

४ टिप्पणी ३ देखो॥

११—संहिता में स्वरित से परे जिस अनुदात्त के आगे उदात्त अथवा जात्य स्वरित होता है, उस स्वरित से परे विद्यमान अनुदात्त को एकश्रुति स्वर नहीं होता, अनुदात्त ही रहता है। यथा—

यज्ञस्य—देवम् = यज्ञस्य देवम्। ऋ० १।१।१॥

होतारम्—रत्नधातमम् = होतारं रत्नधातमम्। ऋ० १।१।१॥

यहाँ प्रथम उदाहरण में 'स्य' स्वरित से परे अनुदात्त 'दे' है, उससे परे 'व' उदात्त है। इसलिए 'दे' को एकश्रुति स्वर नहीं हुआ, अनुदात्त ही रहा। इसी प्रकार द्वितीय पाठ में 'ता' स्वरित है, उससे परे 'र-र-त्न' तीन अनुदात्त हैं, अन्तिम अनुदात्त 'त्न' से परे 'धा' उदात्त है। अतः पहले दो अनुदात्त 'र—र' को एकश्रुति हो गई, परन्तु 'त्न' को एकश्रुति नहीं हुई।

२-पद-पाठ में व्यवहार्य संज्ञाएँ

पद-पाठ में चार संज्ञाएँ अधिक व्यवहार्य हैं—पद, अवग्रह, प्रगृह्य और रिफित।

१—पद-संज्ञा—पद संज्ञा पाँच प्रकार की होती है। यथा—

(क) जिस शब्द के अन्त में नाम की सु-औ-जस् आदि तथा आख्यात की तिप्-तस्-झि अथवा त-आताम्-झ आदि विभक्तियाँ होती हैं, उसे पद कहते हैं[1]।

(ख) समास में पूर्वपद की विभक्तियों का लोप हो जाने पर भी समस्त शब्दों में पूर्व शब्द की पदसंज्ञा होती है[2]।

(ग) नाम की भ्याम्-भिस्-भ्यस्-सुप् विभक्तियों के परे रहने पर पूर्व की पद संज्ञा होती है[3]।

(घ) यकारादि तथा अजादि प्रत्ययों को छोड़कर त्व-ता-तरप्-तमप्-वत् मतुप् (वतुप्) आदि तद्धित प्रत्ययों के परे रहने पर पूर्व की पद संज्ञा होती है[4]। (मतुप् अथवा मतुप् अर्थ वाले प्रत्यय के परे रहने पर तकारान्त और सकारान्त शब्द की पद संज्ञा नहीं होती[5])।

---

१. सुप्तिङन्तं पदम्। अष्टा० १।४।१४॥

२. प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् (अष्टा० १।१।६२) के नियम से।

३. स्वादिष्वसर्वनामस्थाने। अष्टा० १।४।१७॥

४. स्वादिष्वसर्वनामस्थाने, यचि भम्। अष्टा० १।४।१७,१८॥

५. तसौ मत्वर्थे। अष्टा० १।४।१९॥

(ङ) क्यच् क्यङ्-क्यष् प्रत्यय परे रहने पर नकारान्त की पदसंज्ञा होती है[1]।

२—अवग्रह-संज्ञा—समास, अथवा भ्याम् , भिस् आदि नाम विभक्तियों, अथवा त्व, ता आदि तद्धित प्रत्ययों अथवा क्यच् , क्यष् आदि प्रत्ययों के परे रहने पर जिस पूर्ववर्ती शब्द की पद संज्ञा होती है, उस शब्द-भाग को शेष भाग से पृथक् करके दर्शाना अवग्रह कहाता है। वैयाकरणों के मत में इसे अन्तर्वर्ती पदसंज्ञा का निर्देश कह सकते हैं। ऋक्प्रातिशाख्य में अवग्रह के लिए 'परिग्रह' संज्ञा का व्यवहार मिलता है।

३—प्रगृह्य संज्ञा—निम्न पदों की प्रगृह्य संज्ञा होती है—

(क) ईकारान्त ऊकारान्त एकारान्त द्विवचनान्त पद[2]। यथा—

अग्नी, वायू , कन्ये, पचेते, पचेथे आदि।

(ख) अमी पद[3]।

(ग) शे प्रत्ययान्त युष्मे, अस्मे, त्वे, मे आदि पद।[4]

(घ) एकस्वररूप निपात।[5] यथा—अ, इ, उ[6] आदि।

(ङ) ओकारान्त निपात।[7] यथा—आहो, उताहो, प्रो, यो, आदि।

(च) संबुद्धि (संबोधन के एक वचन) में ओकारान्त शब्द इति परे।[8]

(छ) ईकारान्त, ऊकारान्त ऐसे शब्द जिनसे परे सप्तमी का लोप हो गया हो अथवा विभक्ति की उत्पत्ति नहीं हुई हो।[9] यथा—गौरी, मामकी, तनू।

४—रिफित-संज्ञा—रेफान्त तथा सान्त दोनों प्रकार के पदों के रेफ और स् को खर् (ख फ छ ठ थ च ट त क प श ष स) परे रहने पर

१. न: क्ये। अष्टा० १।४।१५॥

२. ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्॥ १।१।११॥

३. अदसो मात्॥ अष्टा० १।१।१२॥

४. शे। अष्टा० १।१।१३॥

५. निपात एकाजनाङ्। अष्टा० १।१।१४॥

६. उ के विषय में आगे प्रगृह्य पद-संबंधी नियमों में विशेष विधान करेंगे॥

७. ओत्। अष्टा० १।१।१५॥

८. संबुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे। अष्टा० १।१।१६॥

९. ईदूतौ च सप्तम्यर्थे। अष्टा० १।१।१९॥

अथवा विराम में विसर्ग हो जाते हैं। यथा—कर् (लुङ् मध्यमैकवचन अट् का अभाव), कस् (किमादेश—प्रथमा के एक वचन में)। स्वर् (अव्यय) स्वस् (स्व का प्रथमा का एक वचन)। ऐसे स्थानों पर सन्देह होता है कि संहिता में विसर्गान्त पढ़ा हुआ पद रेफान्त है अथवा सान्त ('सु' का)। इस सन्देह को दूर करने के लिए संहिता में जिन विसर्गान्त पदों को इकारादि पदों के परे 'र्' भाव रहता है, उनकी रिफित संज्ञा की है।[1]

३—संहितापाठ से पदपाठ करने के साधारण नियम

मन्त्र के संहितापाठ को पदपाठ में परिवर्तित करने के लिए पद, पदस्वर, प्रगृह्य, रिफित और अवग्रहसम्बन्धी नियमों पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

पद-सम्बन्धी सामान्य नियम इस प्रकार हैं—

१—प्रत्येक पद के आगे पूर्ण विराम '।' का चिह्न लगाना चाहिए। उच्चारण में पूर्वपद और उत्तरपद (दो पदों) के मध्य ह्रस्व वर्ण के काल के बराबर के (एक मात्र काल) के बराबर रुकना चाहिए।[2]

२—संहितापाठ में विद्यमान सम्पूर्ण सन्धियों को तोड़कर विशुद्ध पदरूप में उपस्थित करना चाहिए। यथा—

सूनवेऽग्ने सूपायनो भव = सूनवे। अग्ने। सुऽउपायनः[3]। भव॥ ऋ० १।१।९॥

३—संहितापाठ में अनुस्वारान्त पद को पदपाठ में 'म्' अन्त से निर्देश करना चाहिए। यथा—

होतारं रत्नधातमम् = होतारम्। रत्नऽधातमम्। ऋ० १।१।१॥

विशेष—'उपायनः, रत्नधातमम्' इन एक पदों को मध्य में तोड़ने के नियम अवग्रह-प्रकरण में लिखेंगे।

---

१ विसर्जनीयो रिफित। कात्या० प्राति० १।१६०॥ तथा कात्या-प्राति० ४।१९॥ शौनक प्रातिशाख्य में भी विविध शब्दों की 'रेफी' संज्ञा कही है। परन्तु हमने यहाँ उतने अंश का ही उल्लेख किया है जितने का पदपाठ से प्रयोजन है॥

२. किन्हीं के मत में डेढ़, दो मात्रा-काल का व्यवधान माना जाता है। इसकी विवेचना आगे अवग्रहप्रकरण में की जाएगी॥

३. एक पद को मध्य से तोड़ने के नियम आगे लिखे जाएंगे॥

४—जिस पद में केवल संहिता पाठ में ही दीर्घत्व देखा जाता हो, उसे पदपाठ में ह्रस्व करके दिखलाना चाहिये। यथा—

अथा[1] ते=अथ। ते। ऋ० १।४।३॥

विश्वा[2] हि त्वा=विश्व। हि। त्वा। ऋ० १।१०।१०॥

वरुणो मामहन्ताम्[3] =वरुणः। ममहन्ताम्। ऋ०१।९४।१६॥

०ऋतावृधा[4]वृतस्पृशा=ऋतऽवृधौ। ऋतऽस्पृशा ॥ऋ०१।२।८॥

यहां क्रमशः 'अथा-विश्वा-मामहन्ताम् ऋतावृधौ' को 'अथ-विश्व-मम-हन्ताम्-ऋतऽवृधौ' कर दिया जाता है।

४—पदस्वर-संबन्धी नियम

संहितापाठ मे वर्तमान स्वरों को पदपाठ में इस प्रकार परिवर्तित करना चाहिए।

१—संहिता में पूर्वपद के अन्तिम उदात्त के कारण उत्तरपद के आदि के अनुदात्त को स्वरित[5] हुआ हो तो उसे पदपाठ में अनुदात्त ही दर्शाना चाहिए और उससे अगले एकश्रुति स्वर[6] को भी अनुदात्त ही दिखाना चाहिए। यथा—

अग्निमीळे = अग्निम्। ईळे। ऋ० ।१।१।१॥

२—संहिता में पूर्वपद के अन्त्य स्वरित के कारण उत्तरपद के आदि में विद्यमान एकश्रुति[7] को अनुदात्त दर्शाना चाहिए। यथा—

अग्ने सूपायनो = अग्ने। सुऽउपायनः। ऋ० १।१।९ ॥

३—यदि संहितापाठ में उत्तरपद के आदि उदात्त (अथवा जात्य

---

१. निपातस्य च। अष्टा० ६।३।१३६॥

२. द्व्यचोऽतस्तिङः। अष्टा० ६।३।१३५॥

३. तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य। अष्टा० ६।१।७॥

४. अष्टा० सूत्र ६।३।११६ में 'वृधि' के उपसंख्यान से अथवा अष्टा० ६।३।१३७ से॥

५. पूर्व स्वरनियम ६ से प्राप्त॥

६. पूर्व स्वरनियम ७ से प्राप्त॥

७. पूर्व स्वरनियम ७ से प्राप्त॥

स्वरित) परे रहने के कारण पूर्वपद के अन्त्य अनुदात्त को स्वरित न हुआ[1] हो तो उसे पदपाठ में स्वरित दिखाना चाहिए। यथा—

नमो भरन्तः= नमः। भरन्तः ॥ऋ० १।१।७॥

४—यदि संहितापाठ में पूर्वपद में स्वरित से उत्तरवर्ती अनुदात्त को उत्तरपद के आदि उदात्त (अथवा जात्य स्वरित) के कारण एकश्रुति न हुई हो,[2] उसे पदपाठ में एकश्रुतिरूप में दर्शाना चाहिए। यथा—

ऋषिभिरीड्यो नूतनैः = ऋषिभिः। ईड्यः। नूतनैः।
ऋ० १।१।२॥

५—प्रगृह्य-संबन्धी नियम

प्रगृह्य-संज्ञक पदों को पदपाठ में निम्न नियमों के अनुसार दिखाना चाहिए—

१—प्रगृह्य-संज्ञक पद के आगे आद्युदात्त 'इति' शब्द का निर्देश करना चाहिए और उसकी पूर्व के साथ सन्धि नहीं करनी चाहिए। परन्तु स्वर के विषय में संहिता के समान (नियम १०,११ के) कार्य करने चाहिएँ। यथा—

अग्नी इति। ऋ० ५।४५।४॥
अजरयू इति। ऋ० ।१।११६।२०॥
आसाते इति। ऋ० २।४१।५॥
आसाथे[3] इति। ऋ० ५।६२।५॥
वायो[3] इति ऋ० १।२।१॥

२—संहिता में पढ़े गए 'उ' निपात से आगे 'इति' शब्द का प्रयोग करके 'उ' को 'ऊँ' रूप में दर्शाना चाहिए।[4] यथा—

---

१ पूर्व स्वरनियम १० से प्राप्त॥

२. पूर्व स्वरनियम ११ से प्राप्त॥

३. यहाँ 'थे' और 'यो' को स्वरनियम ७ से एकश्रुति स्वर प्राप्त था, वह इति के साथ संहिता मानने से नियम ११ से अनुदात्त ही रहता है॥

४. उञः, ऊँ। अष्टा० १।१।१७,१८॥

अन्वेतुवा उं = अनुऽएतुवै । ऊँ इति[1] ॥ऋ० १।२४।८॥

इमा उ = इमाः । ऊँ इति । ऋ० १।२६।५॥

३—जिस पद में प्रगृह्य संज्ञा और अवग्रह[2] दोनों कार्य दर्शाने हों, वहाँ पहले प्रगृह्य संज्ञा के पद का निर्देश करके उसके आगे इति का प्रयोग करना चाहिए, तत्पश्चात् उसी पद की पुनः आवृत्ति करके अवग्रह दर्शाना चाहिए । यथा—

चित्रभानो इति चित्रऽभानो । ऋ० १।३।४॥

आयुजी इत्याऽयुजी । ऋ० १।२८।७॥

प्रगृह्य पद, इति तथा अवगृहीत[3] तीनों पदों के अनुदात्त आदि स्वरों में संहितावत् यथायोग्य परिवर्तन[4] करने चाहिएं । यथा—

चित्रभानो इति चित्रऽभानो । ऋ० ५।२६।२॥

६—रिफित-संबन्धी नियम

१—संहितापाठ में रेफान्त पद को जहाँ विसर्ग हो जाता है, वहाँ सन्देह होता है कि वह विसर्गान्त रूप उसी से मिलते जुलते सकारान्त पद का है अथवा रेफान्त का । इस सन्देह को मिटाने के लिए पदकार आचार्य जिस विसर्गान्त पद को रेफान्त पद का रूप समझते हैं, उसको पदपाठ में इति शब्द लगाकर निर्देश करते हैं । यथा—

पुक्वमन्तः पयः = पुक्वम् । अन्तरिति । पयः ॥ऋ० १।६२।९॥

दिवो दुहितः प्रत्नवत् = दिवः । दुहितरिति । प्रत्नऽवत् । ऋ० ६।६५।६॥

यहाँ प्रथम उदाहरण में अन्तर् शब्द का और अकारान्त 'अन्त' के प्रथमा के एकवचन में एक जैसा रूप बन सकता है । अतः यहाँ अकारान्त का 'अन्तः' रूप नहीं है, यह दर्शाना अभीष्ट है । द्वितीय उदाहरण में दुहितृ शब्द

---

१ पूना से छपे सायणभाष्य में यहाँ 'ऊम् इति' छपा है, वह अशुद्ध है ॥

२ अवग्रह के नियम आगे लिखेंगे ॥

३. अवगृहीत पदों के स्वरों की व्यवस्था आगे लिखी जायेगी ॥

४ पूर्व उक्त स्वर नियम देखें ॥

का संबोधन में 'दुहितर्' होकर 'दुहितः' रूप बना है। दुह धातु से छान्दस नियम से इट् आगम होकर 'क्त' प्रत्यय का रूप भी 'दुहित.' सम्भव है। अतः मन्त्र में दुहितृ का रूप है, दुहित का नहीं, यह दर्शाया है।

२—रेफान्त 'स्वर्' शब्द के 'स्व.' पद का अकारान्त 'स्व' शब्द के प्रथमा विभक्ति के एकवचन के 'स्वः' रूप से भेद दर्शाने के लिए पूर्व नियम के अनुसार इति शब्द का प्रयोग करते हैं। परन्तु यहाँ इति शब्द के अनन्तर 'स्वः' पद को पुनः पढते हैं। यथा—

स्वः परिभूः = स्वरिति स्वः। परिऽभूः। ऋ० १।५२।१२॥

यहाँ उदात्त इति के परे '१' संख्या का निर्देश अध्याय दस के सूत्र १४ के अनुसार होता है। संहिता के सामान्य नियम के अनुसार जात्य स्वरित 'स्वः' के परे अनुदात्त 'ति' को स्वरित नहीं हो सकता। परन्तु यहाँ पद संबन्धी यह विशेष नियम समझना चाहिए कि स्वरित परे रहने पर भी अनुदात्त को स्वरित हो जाता है। इसी नियम को बतलाने के लिये ही यहाँ 'इति' से आगे पुन. 'स्वः' की आवृत्ति की है।

३—आख्यात-संज्ञक रेफान्त पद के नामसंज्ञक सान्त पद (विभक्ति के सकार के कारण) के साथ होने वाले सन्देह की निवृत्ति के लिए पूर्व नियम १ से इति पद का प्रयोग करते हैं और उसके आख्यातत्व धर्म को बताने के लिए उसकी पुनरावृत्ति करते हैं[1]। यथा—

एतशे कः = एतशे। करिति कः ॥ऋ० ५।२९।५॥

पातवे वाः = पातवे। वारिति वाः ॥ ऋ० १।११६।२२॥

यहाँ प्रथम उदाहरण में 'कः' 'कृ' धातु के लुङ् के मध्यम पुरुष के एकवचन का रूप है, 'अट्' का आगम नहीं होता। इसका 'किम्' के 'कः' रूप से सादृश्य है। दूसरे उदाहरण में 'वाः' 'वार्' रेफान्त का रूप है।

४—कहीं कहीं विसर्गान्त सान्त शब्दों के आख्यात और नाम का भेद दर्शाने के लिए भी आख्यातपद से 'इति' शब्द का निर्देश करके आख्यातपद की पुनरावृत्ति दर्शाते हैं। यथा—

देवं भाः = देवम्। भारिति भाः। ऋ० १।१२८।२॥

---

१ नामकपदों की इति पद से आगे पुनरावृत्ति नहीं होती। देखिए प्रथम नियम॥

यहां 'भा.' 'भा दीप्तौ' के मध्यम पुरुष के एकवचन 'भास्' का रूप है। ऐसा ही 'भाः' पद सान्त 'भास्' शब्द का भी बनता है।

५—एक स्थान पर 'अस्' धातु के आख्यात रूप 'स्त.' का 'स्तृ' के स्वर् = 'स्तः' रूप से भेद दर्शाने के लिए भी इति का प्रयोग और पुनरावृत्ति दर्शाई है। यथा—

स्तु इति स्तः। ऋ० ८।३।२॥

७—अवग्रह-सम्बन्धी नियम

१—पदच्छेद करते समय जिन पदों में 'भ्याम्-भिस्' अथवा 'त्व-ता-तरप् तमप्' आदि प्रत्ययों के परे रहने पर पूर्व भाग की अवग्रह (पद) संज्ञा हो' उसे तथा समास के पूर्वपद को उत्तर भाग से पृथक् करके दर्शाना चाहिए।

२—अवग्रहसंज्ञक भाग को पृथक् दर्शाने के लिए उसके आगे ऽ चिह्न का प्रयोग करना चाहिए। दोनों भागों के उच्चारण में अर्धमात्रा काल[1] का व्यवधान करना चाहिए। यथा—

अप्ऽसु। ऋ० १।२३।१९॥ कण्वऽतमः। ऋ० ।१।४८।४॥
कण्वऽसखा।ऋ०१०।११५।५॥ आऽवर्जते।ऋ०१।३३।१॥

३—अवग्रहसंज्ञक भाग में उत्तरभाग के कारण यदि कोई सन्धि हुई हो तो उस सन्धि को दूर करके शुद्ध रूप में दर्शाना चाहिए। यथा—

---

१. कात्यायन प्रातिशाख्य में 'अवग्रहो ह्रस्वसमकालः' (५।१) ह्रस्व-समकाल एकमात्राकाल माना है। कैयट ने महाभाष्य १।१।७ की व्याख्या में 'अर्धमात्रा-काल' लिखा है। नागेश ने दोनों मतों के विरोध का समाधान करते हुए लिखा है—दो अव्यवहित वर्णों के उच्चारण में जिस अत्यल्प काल का अन्तर अवश्यभावी होता है। दो वर्णों के उच्चारण के लिए दो प्रयत्न करने होते हैं, दोनों प्रयत्नों के मध्य में यदि सूक्ष्म काल का व्यवधान न माना जाए तो प्रयत्नों का द्वित्व नहीं बनता। एक प्रयत्न से दो वर्ण बोले नहीं-जाते। इसलिए इस अवश्यभावी काल-व्यवधान का परिमाण अर्धमात्रा-काल माना जाता है। जो इस अवश्यभावी काल की उपेक्षा करते हैं, वे अवग्रह में 'अर्धमात्रा-काल का व्यवधान कहते हैं और जो इस अवश्यभावी काल को अवग्रह के अर्धमात्रा-काल में जोड़ देते हैं, वे एकमात्राकाल का व्यवधान मानते हैं। इस प्रकार दोनों मतों में कोई भेद नहीं॥

अद्भिः=अप्ऽभिः । यजुः ६।१८॥

अब्जाः=अप्ऽजाः । ऋ० ४।४०।५॥

पुरोहितम्=पुरःऽहितम् । ऋ० १।१।१॥

अन्वेतवै = अनुऽएतवै । ऋ० १।२४।८॥

४—अवग्रहसंज्ञक भाग में यदि ऐसा दीर्घत्व हो जो लोक में दिखलाई न पड़ता हो, तो अवग्रह दर्शाते समय उसे ह्रस्व कर दिया जाता है। यथा—

पुरूतमम्=पुरुऽतमम् । ऋ० ।१।५।२॥

ऋतेन–ऋतावृधौ=ऋतऽवृधौ ।१।२।८॥

५—नकारान्त शब्द से मतुप् (वतुप्), तरप्, तमप् इन प्रत्ययों के परे रहने पर 'न' के आगे अवग्रह का चिह्न लगाना चाहिए। यथा—

अक्षण्वन्तः = अक्षन्ऽवन्तः । ऋ० १०।७१।७॥

अस्थन्वन्तम् = अस्थन्ऽवन्तम् । ऋ० ।१।१६४।४॥

मदिन्तरः = मदिन्ऽतरः । ऋ० ८।२४।१६॥

दस्युहन्तमम् = दस्युहन्ऽतमम् ।ऋ० ६।१६।१५॥

विशेष—पाणिनीय व्याकरण के अनुसार इन प्रयोगों में नान्त शब्द के न का लोप होता है। तदनन्तर अष्टा० ८।२।१६,१७ से प्रत्यय को नुट् का आगम होता है। इसलिए, पाणिनीय मतानुसार अवग्रह 'अक्षऽन्वत'-दस्युहऽन्तमः' ऐसा पाता है। पदकार शाकल्य ने अपने व्याकरणानुसार पदपाठ की रचना की है। सम्भव है उनके व्याकरण में 'मतुप्-तरप्-तमप्' प्रत्ययों के परे रहने परे नान्त पद के न का लोप न माना हो।

६—समासयुक्त कृदन्त हलन्त अथवा ह्रस्वान्त शब्द से परे 'तरप्-तमप्' प्रत्यय हुए हों तो वहाँ कृदन्त भाग के आगे अवग्रह का चिह्न किया जाता है। यथा—

दस्युहन्तमः = दस्युहन्ऽतमः । ऋ० ६।१६।१५॥

देवव्यचस्तमः = देवव्यचःऽतमः ।ऋ० ५।२२।२॥

देववाततमः = देववातऽतमः । ऋ० ६।२६।४॥

चित्रश्रवस्तमः = चित्रश्रवःऽतमः । ऋ० ३।५६।६॥

७—समासयुक्त कृदन्त भाग यदि दीर्घान्त हो और उससे परे 'तरप्-तमप्' प्रत्यय हुए हों तो वहाँ समासयुक्त कृदन्त भाग में पूर्वपद के उत्तर अवग्रह का चिह्न किया जाएगा। यथा—

रत्नधातमम् = रत्नऽधातमम् । ऋ० १।१।१॥

अश्वसातमः = अश्वऽसातमः । ऋ० १।१७५।५॥

देववीतमः = देवऽवीतमः । ऋ० १।३६।९॥

८—जहाँ कृदन्त का दो उपसर्गों के साथ समास होता है, वहाँ प्रथम उपसर्ग के आगे अवग्रह का चिह्न किया जाता है। यथा—

दुर्नियन्तुः = दुःऽनियन्तुः । ऋ० १।१६०।६॥

९—जहाँ पदपाठ में अवग्रह और प्रगृह्य दोनों संज्ञाएँ दिखानी होती हैं, वहाँ पहले अवग्रहरहित पद का निर्देश करके 'इति' का निर्देश किया जाता है और उसके अनन्तर उसी पद की आवृत्ति करके अवग्रह दर्शाया जाता है। यथा—

देवशिष्टे इति देवऽशिष्टे । ऋ० १।११३।३॥

सबन्धू इति सऽबन्धू । ऋ० ३।१।१०॥

संरराणे इति सम्ऽरराणे । ऋ० ६।७०।६॥

१०—संहितापाठ में जहाँ एक पद की द्विरावृत्ति (द्विर्वचन) होता है, वहाँ पदपाठ में द्विरावृत्ति (दोनों) को एक पद समान मानकर पूर्व के अनन्तर अवग्रह दर्शाया जाता है। यथा—

दिवेदिवे = दिवेऽदिवे । ऋ० १।१।३॥

प्रप्र = प्रऽप्र । ऋ० १।४०।७॥

संसं = सम्ऽसम् । ऋ० १०।१९१।१॥

११—संहिता में जहाँ आख्यात (तिङन्त) उदात्त हो और अव्यवहितपूर्व उपसर्ग अनुदात्त हो, वहां उपसर्ग और आख्यात को समस्त पद मानकर उपसर्ग के आगे अवग्रह दर्शाया जाता है। यथा—

प्रवीचति = प्रऽवोचति । ऋ० ५।२७।४॥

अभिशासति = अभिऽशासति । ऋ० ६।५४।२॥

निवेशयन् = निऽवेशयन् ऋ० १।३५।२॥

१२—संहिता में जहां आख्यात अनुदात्त हो, परन्तु उससे अव्यवहित दो उपसर्ग प्रयुक्त हों और उन दोनों में पहला उपसर्ग अनुदात्त हो और दूसरा उदात्त हो तो वहां तीनों पदों को समस्त मानकर प्रथम उपसर्ग से अवग्रह दर्शाया जाता है। यथा—

अन्वालेभिरे=अनुऽआलेभिरे । ऋ० ।१०।१३०।७॥

प्रत्यावर्तय=प्रतिऽआवर्तय । ऋ० ६।४७।३१॥

विप्रयन्तः=विऽप्रयन्तः । ऋ० ९।२२।५॥

१३—नञ्समास और द्वन्द्वसमास में अवग्रह नहीं दर्शाया जाता। यथा—

अजरः । ऋ० १।५८।२॥ अदब्धाः । ऋ० १।१७३।१॥

अनपत्यानि। ऋ० ३।५४।१८॥ अनवद्यः । ऋ० ९।९६।१०॥

द्यावाक्षामा । ऋ० १।९६।५॥ इन्द्रवायू ऋ० १।२।४॥

१४—जिस पद की अनेक प्रकार से व्युत्पत्ति हो सकती है, उसमें अवग्रह नहीं दर्शाया जाता। यथा—

आशुशुक्षणिः । ऋ० २।१।१॥

यहां 'आ-शुशुक्षणि' है, अथवा 'आशु-शुक्षणि' है, अथवा 'आशु-शु-क्षणि' है, यह सन्दिग्ध है।[1]

कात्यायन ने कहा है—पाक्त्रान् उद्रोऽभ्राय संशयात् [नावगृह्यन्ते] (प्राति० ५।३४)। अर्थात्—पाकृत्रान् उद्रः अभ्राय इन पदों में व्युत्पत्ति के संशय के कारण अवग्रह नहीं दर्शाया जाता।[2]

---

१. आशु इति च शु इति च क्षिप्रनाम्नी भवत., क्षणिरुत्तर· .... आ इत्याकार उपसर्गः पुरस्तात्, चिकीर्षितज उत्तरः। निरु० ६।१॥

२. इनकी विविध व्युत्पत्तियों के लिए देखो इस सूत्र का उव्वट भाष्य। तुलना करो—कैयट (महा० प्रदीप ३।१।१०९) तदुक्तम्—'हरिद्रुर्नावगृह्यते। हरिद्रुरित्यत्र किं हरिशब्द इकारान्त·, अथ हरिच्छब्दस्तकारान्त इति सन्देहात्'॥

१५—जहा 'भ्याम्-भिस्-भ्यस्-नाम्-सु' विभक्तियों के परे शब्द के अन्तिम अ इ उ ऋ को दीर्घ या अन्य विकार हो जाता है, वहा अवग्रह नहीं दर्शाया जाता। यथा—

हस्त—हस्ताभ्याम् । ऋ० १०।१३७।७॥

आदित्य—आदित्येभिः । ऋ० १।२०।५॥

आदित्येषु । ऋ० ८।२७।३॥

मति—मतीनाम् । ऋ० १।४६।५॥

मधु—मधूनाम् । ऋ० १।११७।६॥

पितृ—पितॄणाम् । ऋ० १।१०६।३॥

१६—अवग्रह में स्वर-सचार एकपदवत् मानकर किया जाता है। यथा—

सबन्धू इति सऽबन्धू ऋ० । ३।१।१०

दस्युहन्ऽतमः । ऋ० ६।१६।१५॥

चित्रश्रवःऽतमः । ऋ० ३।५९।६॥

यहा प्रथम और द्वितीय उदाहरणों में अवगृहीत उदात्त 'स' से परे 'बन्धू' के अनुदात्त को स्वरित तथा एकश्रुति हो गई। तृतीय में अवगृहीत पद के 'श्र' के स्वरितत्व को मानकर उत्तरभाग के अनुदात्तों को एकश्रुति हो गई।

१७—जिस पद में अवग्रह दर्शाना हो, उसके उत्तरभाग का अन्तिम अक्षर उदात्त हो तो 'इति' शब्द के स्वरित 'ति' से परे किसी अनुदात्त को एकश्रुति नहीं होती। यथा—

सरराणे इति सम्ऽरराणे । ऋ० ७।७०।६॥

इति के साथ स्वरसन्धि हो जाने पर भी एकश्रुति नहीं होती। यथा—

आमिमाने इत्याऽमिमाने । ऋ० १।११३।२॥

१८—अवगृह्यमाण पद में यदि पूर्वभाग अन्तोदात्त हो तो 'इति' शब्द के स्वरित 'ति' से परे पूर्वभाग के अनुदात्तों को एकश्रुति नहीं होती, परन्तु पूर्वभाग के अन्तिम उदात्त से परे उत्तरभाग में स्वरितत्व और एकश्रुति हो जाती है। यथा—

समानबन्धू इति समानबन्धू । ऋ० १।११३।२॥

उपसंहार

मन्त्र के संहितापाठ को पदपाठ में परिवर्तित करने के जो नियम ऊपर लिखे हैं, वे ऋग्वेद के पदपाठ के अनुसार हैं।

शुक्ल यजु के माध्यन्दिन और काण्व, कृष्ण यजु. के तैत्तिरीय, मैत्रायणी आदि, सामवेद और अथर्ववेद के पदपाठों के नियमों में कुछ कुछ अपनी अपनी विशेषताएं हैं। उन सबका वर्णन यहां विस्तारभय से नहीं किया।

यह प्रकरण केवल एम. ए. और शास्त्री के विद्यार्थियों के लिए ही लिखा गया है। उनके पाठ्यक्रम में प्रायः ऋग्वेद के ही अंश रहते हैं, इसलिए केवल ऋग्वेद के पदपाठ के नियम दिए हैं।

कहां कहां अवग्रह नहीं होता, यह पूर्णतया उस उस शाखा के प्रातिशाख्यों से ही जाना जा सकता है। उन्हें किन्हीं विशेष नियमों में बांधना असम्भव है। प्रातिशाख्यकारों ने भी प्रायः पद गिना दिए हैं। इसलिए इस एक अंश को छोड़कर अन्य नियम प्रायः सब लिख दिए हैं। इनका ध्यान रखने से निन्यानवे प्रतिशत पदपाठ शुद्ध रूप में निरूपित किया जा सकता है॥

॥ इति शम्॥



परिशिष्ट—२

साम-पदपाठ-स्वराङ्कन-प्रकार

अन्य संहिताओं के पदपाठों का स्वराङ्कन-प्रकार प्रायः वही है, जो उनकी संहिताओं का है। परन्तु सामवेद के पदपाठ का स्वराङ्कन-प्रकार सामसंहिता के स्वराङ्कनप्रकार से विभिन्न है। अतः उसका यहाँ निर्देश करते हैं—

अथातः प्रतृणस्य ॥१॥

संहिताओं तथा ब्राह्मणों के निर्भुज के स्वराङ्कन-प्रकार को कहकर अब केवल साम के प्रतृण-पदपाठ का स्वराङ्कन-प्रकार कहा जा रहा है।

उदात्त एकाकेन ॥२॥

पदपाठ में भी उदात्त एक अङ्क से ही निर्दिष्ट होता है। जैसे—

१ २र

अग्ने [पू० १ । १ । १]।

स्वरित अधिकार सूत्र ६ से पहले 'उदात्त' का अधिकार जानना चाहिए।

असहायो द्व्यङ्केन ॥३॥

अकेला जो उदात्त है, वह दो अङ्क से निर्दिष्ट होता है।

२ २

आ नि (पू० १ । १ । १ ।)

असहाय इसलिए पढ़ा है कि

१२र ३ १ २

अग्ने, वीतये पू० १ । १ । १ ।

यहाँ अ और त में उदात्त दो अङ्क से निर्दिष्ट नहीं हुआ।

अनुदात्ते च ॥४॥

और अनुदात्त परे रहते भी उदात्त '२' के अङ्क से निर्दिष्ट होता है। जैसे—

२ ३र १ २   २ ३र १ २

अग्नरिति [पू० २।१०।८], पुनरिति' (पू० ३।६।२)

यहाँ क्रमशः 'अ' और 'पु' उदाहरण हैं।

अनुदात्तात् परश्चावसाने ॥५॥

"अनुदात्तात्" यह जाति में एकवचन है। अतः यथासम्भव अनुदात्त तथा अनुदात्तों से परे जो उदात्त है, वह '२' के अक से निर्दिष्ट होता है। जैसे–

३ २ ३ २ ३ २
हितः [पू० १।१।२] गृणानः [पू० १।१।१] द्रविणस्युः [पू० १।१।४]

यहाँ क्रमशः तः, नः, स्युः उदाहरण हैं। पिछले और इस सूत्र में 'च' शब्द से 'द्वयकेन' की अनुवृत्ति ली जाती है।

स्वरितो द्वयङ्केन ॥६॥

पदपाठ में स्वरित '२' के अक से निर्दिष्ट होता है। जैसे—

३ १ २ ३ १ २
वीतये (पू० १।१।१), ऊतये (पू० १।६।३)

यहाँ 'ये' उदाहरण है। द्वयंक की अनुवृत्ति आने पर भी पुनः द्वयक का पाठ उदात्त की निवृत्ति को बतलाता है। 'स्वरित' का अधिकार अनुदात्तग्रहण (ग्यारहवें सूत्र) से पूर्व तक है।

क्षैप्रजात्यो चावसानैकश्रुत्योः ॥७॥

ध्यन्त एकश्रुति पद के पूर्वनिपात-व्यभिचार-लिङ्ग के होने से इस सूत्र में कार्य यथासख्य नहीं होता। क्षैप्र और जात्य नामक स्वरित अवसान तथा एकश्रुति में '२' अक से निर्दिष्ट होते हैं जैसे—

३क २
क्षैप्र अवसान में—तन्वा (पू० १।५।८) ॥

३क २
जात्य अवसान में—दूत्यम् (पू० १।७।२) ॥

३ ३क २
एकश्रुति में—मनुष्येभिः (पू० १।८।७) ॥

यहाँ क्रमशः 'वा' 'व' 'ये'—उदाहरण हैं। यद्यपि यह कार्य सामान्य सूत्र से ही हो सकता है, तथापि बाल-बुद्धियों की सरलता के लिए पृथक् कहा जाता है।

अपूर्वोदात्ताच्च सरेफेण ॥८॥

नहीं है पूर्व में कोई स्वर जिसके, ऐसे उदात्त से परे जो स्वरित हो, वह रेफ-विशिष्ट २ के अङ्क से निर्दिष्ट होता है। जैसे—

१ २र   १ २र
अग्ने (पू० १।१।१), निहितः (१।८।७) ॥

यहाँ क्रमशः 'ने' और 'हि' उदाहरण हैं।

सूत्र में 'अपूर्वात्' इसलिए पढ़ा है कि—

३ १ २   ३ १ २
ऊतये (पू० १।६।१), वाजयन्तः (पू० १।९।७) ॥

यहाँ 'ये' और 'त' में '२र' का चिन्ह नहीं लगा, क्योंकि उससे पहले उदात्त से पहले अनुदात्त स्वर वर्तमान है।

उदात्त इसलिए पढ़ा है कि

३क २   ३क २
तन्वा (पू० १।५।८), दूत्यम् पू० १।७।२ ॥

यहाँ 'वा' और 'य' से पहिले अपूर्व अनुदात्त हैं, उदात्त नहीं, अतः उनमें २र का चिन्ह नहीं लगा।

अपूर्वो जात्यो द्वादशांकेन ॥९॥

नहीं है पूर्व में कोई दूसरा स्वर जिससे, ऐसा जात्य स्वरित '१२' के अङ्क से निर्दिष्ट होता है। जैसे—

१२   १२
क्व [पू० २।५।८, ३।८।९] स्वर्वान् पू० १।७।१॥

सूत्र में अपूर्व इसलिए पढ़ा है कि

३क २
दूत्यम् पू० १।७।२॥

यहाँ स्वरित से पूर्व अनुदात्त होने से यह लक्षण प्रवृत्त नहीं होता।

उदात्ते प्लुतश्च ॥१०॥

सूत्र में 'च' से अपूर्व जात्य की अनुवृत्ति ली जाती है। उदात्त परे रहते अपूर्व जात्य स्वरित प्लुत हो जाता है। जैसे—

२र १ २
स्वा३रिति [पू० ५।८।८]

२ के अङ्क का निर्देश "स्वरितो द्वयकेन" सूत्र से प्राप्त ही था, इस सूत्र से केवल प्लुत का विधान किया जाता है।

अनुदात्तस्त्र्यंकेन ॥११॥

पदपाठ में अनुदात्त को ३ के अक से निर्दिष्ट किया जाता है। जैसे

३ १ २
वीतये ।

यहाँ 'वी' उदाहरण है। इस सूत्र का अधिकार 'अवग्रह'ग्रहण (सूत्र १६) तक है।

अनेकप्रसंगे प्रथम एव ॥१२॥

जहाँ अनेक अनुदात्त हों, वहाँ पहिले पर ही ३का अक लगाया जाता है, शेष पर नहीं। जैसे—

३ २ ३ २
गृणाना [पू० १।१।१], द्रविणस्युः (पू० १।१।४) ॥

यहाँ 'गृ' और 'द्र' उदाहरण हैं।

इतावनार्षेऽस्वरितपूर्वः सरेफेण ॥१३॥

नहीं है स्वरित पूर्व में जिसके, ऐसा अनुदात्त, अवैदिक इति शब्द आगे होने पर, रेफसहित तीन के अंक से निर्दिष्ट होता है। जैसे—

२ ३र १ २ २ ३र १ २
अवरिति (पू० २।१०।८), पुनरिति पू०३।६।२॥

यहाँ क्रमशः 'व' और 'न' उदाहरण हैं।

सूत्र में 'अस्वरितपूर्व' क्यों कहा ? इसलिये कि

१ २र ३ १ २
रोदसी इति (पू० ।१।७।६) ॥

यहाँ 'सी' में ३ के साथ 'र' नहीं लगा, क्योंकि उससे पहले स्वरित है।

क्षैप्रजात्ययोः सककारेण ॥१४॥

क्षैप्र और जात्य नामक स्वरित परे हों तो उनसे पहिले के अनुदात्त पर 'क' के साथ ३ का अक लगाया जाता है। जैसे—

३ क २
क्षैप्र में—तन्वा (पू० १।५।८) ॥

३क २
जात्य में—दूत्यम् (पू० १।७।२) ॥

यहाँ क्रमशः 'त' और 'दु' उदाहरण हैं, इनके आगे 'वा' और 'यम्' क्षैप्र और नात्य स्वरित हैं।

अनेकानुदात्तत्वं चाद्यन्तौ यथापूर्वम् ॥१५॥

'च' से 'क्षैप्रजात्ययोः' की अनुवृत्ति आती है। क्षैप्र, नात्य स्वरित परे होने पर जहाँ अनेक अनुदात्त हों, वहाँ पहला और अन्तिम दोनों यथापूर्व अर्थात् पहला '३' से और अन्तिम '३क' से निर्दिष्ट होता है। जैसे—

३ ३क २
मनुष्येभिः (पू० १।८।७) ॥

अवग्रहे पृथक्पदवत् ॥१६॥

यहाँ पद-पाठ में पृथक् पद के समान स्वर प्रवृत्त होता है। जैसे—

३ १२ ३ २ ३ १ २र २ ३
हव्यदातये हव्य दातये (पू० १।१।१), विवस्वत् वि वस्वत्।
(पू० १। १। १।) ॥

ऋग्, यजुः तथा अथर्व के पाठ में अवग्रह में भी एक पद के समान स्वर प्रवृत्त होता है। जैसे—

हव्यऽदातये (ऋग् ६।१६।१०); विश्वधा इति विश्वधाः (यजु. १। २); लोहितऽवाससः (अथर्व १।१७।१)

एकश्रुतिरनंकितानंकिता ॥१७॥

पदपाठ में एकश्रुति पर कोई अंक नहीं लगता जैसे—

३ १ २ १ २र
यज्ञियाय (पू० १। २। ५), देदिशति (पू० १। २।३) ॥

'अनङ्किता' शब्द को सूत्र में दो बार पढ़ना प्रकरण की समाप्ति को बताता है ॥



तृतीय परिशिष्ट

परिवर्धन, परिवर्तन व संशोधन

पृष्ठ ४, पं० ३० के आगे परिवर्धन—

स्वर शब्द दो प्रकार का है, एक आद्युदात्त और दूसरा अन्तोदात्त। निघण्टु १।११ (३१) में वाङ्नामों में पठित स्वर शब्द आद्युदात्त उपलब्ध होता है। यदि आद्युदात्त स्वर शब्द वाङ्नाम है तो यदा न तं स्वर पश्येद् अन्यार्थं तदानयेत्—न्याय के अनुसार निश्चय ही सायण का ऋग्भाष्य ८।७२।७ में अन्तोदात्त स्वर शब्द का 'वाक्' अर्थ करना अशुद्ध होगा।

पृष्ठ ६, पं० २७ में—'उदात्तादि' के स्थान में 'उदात्तादि स्वरों के' पढ़ें।

पृष्ठ १७, पं० २४ में—'०मुदात्तादन्तरे' के स्थान में '०मुदात्तादनन्तरे' पढ़ें।

पृष्ठ १८, पं० ३ में—'उदात्तादन्तरे' के स्थान में 'उदात्तादनन्तरे' पढ़ें।

पृष्ठ १८, पं० ५ में—'नहीं होनी चाहिए' के स्थान में 'नहीं होती' पढ़ें।

पृष्ठ १८, पं० ६ में—'परन्तु   दिखाई पड़ती है' पङ्क्ति हटा दें।

पृष्ठ ३०, पं० १ में—'देखो पिछले पृष्ठ की' के स्थान में 'देखो पृष्ठ २८ की' पढ़ें।

पृष्ठ ३४, पं० ३ में—प्रयुक्त 'भारोपीय' पद का अर्थ—

पाश्चात्य भाषाविदों का मत है कि भारतीय और योरोपीय भाषाओं की मूलभूत कोई अन्य स्वतन्त्र भाषा थी। उस से ही भारतीय और योरोपीय भाषाओं का उद्गम हुआ है। उसी मूलरूप से अभिमत भाषा के लिए 'भारतीय-योरोपीय' शब्द का संक्षिप्त वचन 'भारोपीय' पद का व्यवहार किया जाता है।

पृष्ठ ३४, पं० १८ में—'करते हैं।' के आगे बढ़ावें—

"जोधपुर राज्य के 'रजलाणी' गाव ('गोटन' स्टेशन के पास) मे स० २०१४ चैत्र कृष्णा १ को जाने पर विदित हुआ कि वहा के निवासी भी अ, आ का उच्चारण प्रायः ह्रस्व ओकार के सदृश करते हैं। यथा—परसाल = पोरसाल, परसाद = पोरसाद, वांक्या = वोंक्या (वाद्यविशेष) आदि।"

पृष्ठ ३९, पं० २८ तथा पृष्ठ ४०, पं० ३ में निर्दिष्ट निरुक्त के वचनों पर लगे स्वर-चिह्न श्री डा० लक्ष्मणस्वरूप के संस्करण में उपलब्ध होते हैं (अन्यत्र के छपे हुओं में कहीं हैं, कहीं नहीं हैं)। उनके संस्करण में निरुक्त ३।१६ पर 'ब्राह्मणवद्, वृषलवद्' लौकिक उदाहरणों पर भी स्वर-चिह्न विद्यमान हैं। इसमें 'ब्रा' का स्वर-चिह्न लेखक-प्रमाद से नष्ट हो गया है।

पृष्ठ ४४, पं० १ में—'स्वर का यथार्थ उच्चारण हो तो' के स्थान में 'स्वर का वक्ता द्वारा यथार्थ उच्चारण तथा श्रोता द्वारा यथार्थ श्रवण हो तो' पढ़ें।

पृष्ठ ४८, पं० १९ के 'हो सकता है' के आगे बढ़ावें—

'पदस्वर अथवा वाक्यस्वर के अभाव में ही भरतमुनि-कथित सन्दर्भ-स्वर (एक पूरे सन्दर्भ का एक स्वर से उच्चारण) की संभावना हो सकती है।'

पृष्ठ ५४, पं० २ में—'स्थापयेत्' के स्थान में 'स्थापयेदिति' पढ़ें।

पृष्ठ ५९, पं० १७ में—'शब्दार्थ पर' के स्थान में 'शब्दार्थ और वाक्यार्थ पर' पढ़ें।

पृष्ठ ७०, पं० १६ में—'धब्बे हैं, एक स्थान पर' के स्थान में 'धब्बे हैं और वे एक स्थान पर' पढ़ें।

पृष्ठ ८२, पं० १२ तथा पृष्ठ ८३, पं० २४ में—'नतस्यं प्रतिमा अस्ति' ऐसे पाठ के स्थान में 'नतस्यंप्रतिमा अस्ति' ऐसा संहिता-पाठ चाहिए।

पृष्ठ ८८, पं० १६ में—'सकार आगम' के स्थान में 'मैकडानल प्रभृति ने सकार आगम' ऐसा पाठ चाहिए।

पृष्ठ ९४, पं० २७ में—'पूर्व पृष्ठ' के स्थान में 'पूर्व पृष्ठ ८३' पढ़ें।

पृष्ठ ९६, पं० २९ में—'इसी प्रकार कहने की' के स्थान में 'इसी प्रकार अपशब्द कहने की' चाहिए।

पृष्ठ ९८, पं० २१ में—'पठित है[१]।' पर से १ संख्या हटा दें।

पृष्ठ ९८, पं० ३० में—'पृष्ठ १०३' के स्थान में 'पृष्ठ १३०' पढ़ें।

पृष्ठ ९९, पं० ६ में—'प्रवचन करके' के स्थान में 'प्रवचन न करके' पढ़ें।

पृष्ठ १०३, पं० ३१ में—'स्वरित को तथा' के स्थान में 'स्वरित को उदात्त तथा' चाहिए।

पृष्ठ १०६, पं० १४ में—'निर्णय' के स्थान में 'वर्णन' चाहिए।

पृष्ठ ११०, पं० २१ के 'यशस्विनां' पर टिप्पणी—

पूना के सायण-भाष्य में छपे खिलपाठ में 'यशस्विनां' में 'य' और 'स्वि' दोनों पर उदात्तस्वर का चिह्न लगा है। 'यशस्विना' पद में

प्रत्ययस्वर से 'वि' ही उदात्त है। अतः खिलपाठ में 'य' पर स्वरचिह्न का निर्देश प्रमादजन्य समझना चाहिए।

पृष्ठ १११, पं० ४, ५ में 'वृक्यें' तथा 'स्वं' पर सीधी रेखा नहीं चाहिए ऐसी टेढ़ी रेखा होनी चाहिए, चिह्नाभाव से सीधी रेखा छप गई है।

पृष्ठ ११२, पं० १ में—'आपोन' के स्थान में 'आपो न' ऐसा पार्थक्य होना चाहिए।

पृष्ठ ११२, पं० ३ में—'प्रत्यमदर्घ' के स्थान में 'प्रत्यमदर्घ.' चाहिए।

पृष्ठ ११२, प० ४ में—'ह्रीऽतो३न्नास्ये' के स्थान में 'ह्रीतो३इन्यांस्ये' चाहिए।

पृष्ठ ११२, प० ५ में—'परेह्रितो३न्नास्ये' के स्थान में 'परें ह्रीतो३इन्यास्ये' पाठ होना चाहिए।

पृष्ठ १५७, प० १ में—'प्रवीचति' के स्थान पर 'प्रवोचति' चाहिये।



लेखक के कतिपय लिखित और सम्पादित ग्रन्थ

लिखित—

	मूल्य
१. ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास	४)
२. संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग)	१०)
३. ऋग्वेद की ऋक्संख्या	॥)
४. ऋग्वेद की दानस्तुतियों पर विचार	।)
५. 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'-इत्यत्र कश्चिदभिनवो विचारः (संस्कृत-हिन्दी)	।)
६. 'दुष्कृताय चरकाचार्यम्'—मन्त्र पर विचार	।)
७. वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं का ऐतिहासिक अनुशीलन	१)
८. सामस्वराङ्कनप्रकार	≡)
९. क्या वैदिक ऋषि मन्त्र-रचयिता थे ?	(अप्राप्य)
१०. आचार्य पाणिनि के समय विद्यमान संस्कृत वाङ्मय	॥)
११. वैदिक-स्वर-मीमांसा	३)
१२. काशकृत्स्न व्याकरण और उसके उपलब्ध सूत्र	१)
१३. छन्दः-शास्त्र का इतिहास	(अप्रकाशित)
१४. वैदिक-छन्दोमीमांसा	"
१५. शिक्षा-शास्त्र का इतिहास	"

सम्पादित—

१. दशपादी-उणादि-वृत्ति	३।)
२. निरुक्त-समुच्चय (वररुचिकृत)	(अप्राप्य)
३. भागवृत्ति-संकलनम्	"
४. शिक्षा-सूत्राणि—(पाणिनि, आपिशलि, चन्द्राचार्य कृत)	।)
५. क्षीरतरङ्गिणी–क्षीरस्वामी-विरचित (धातुवृत्ति से प्राचीन)	१२)

प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान, ४९४३ रेगरपुरा गली नं० ४०,
करोलबाग, नई देहली ५,

